श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीप्रेमसम्पुटः

श्रील विश्वनाथचक्रवर्त्तिप्रणीतः

श्रीहरिदासशास्त्री

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

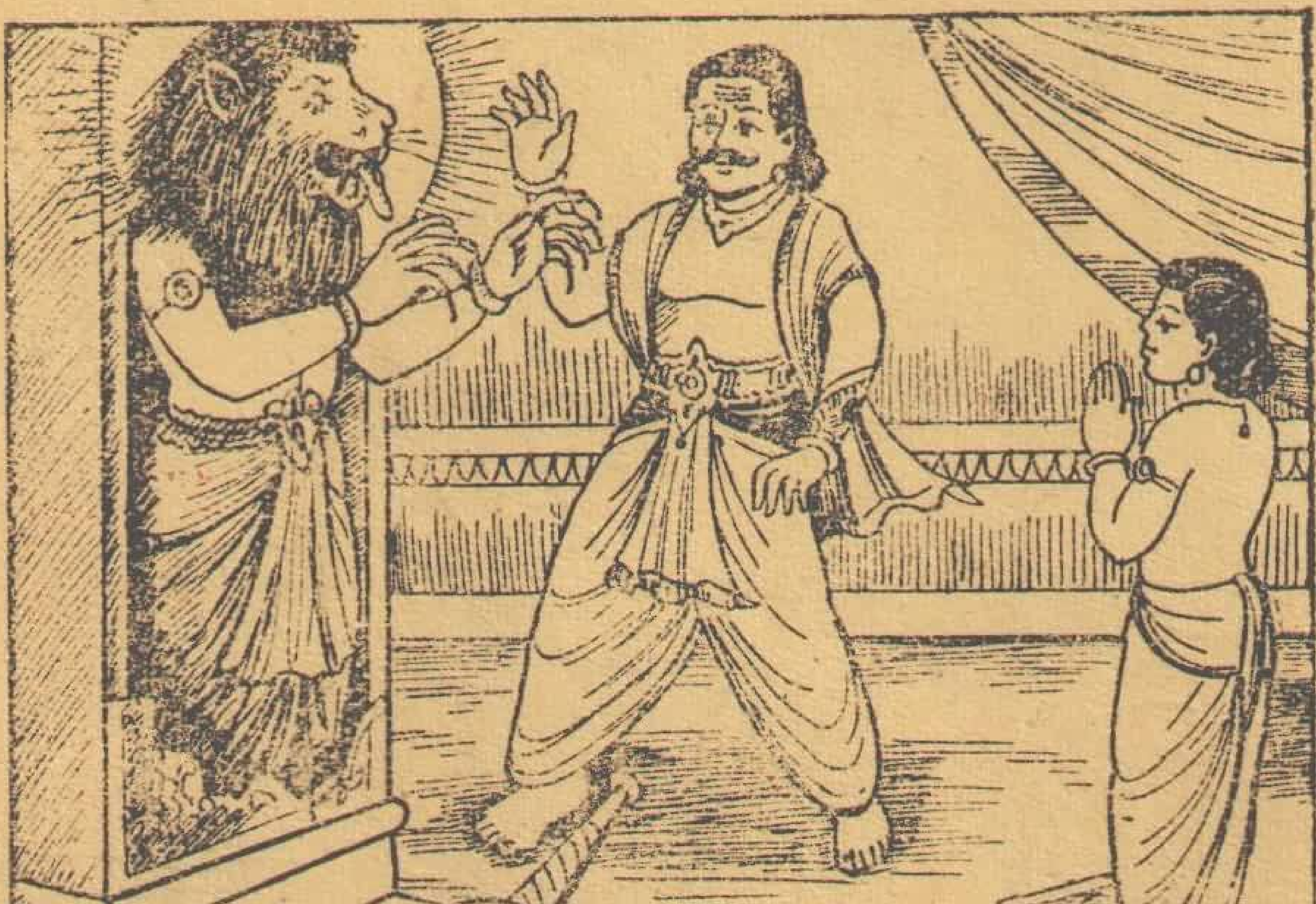

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीप्रेमसम्पुटः

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिप्रणीतः

श्रीवृन्दाबनधामवास्तव्येन

न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण,
सांख्य, मीमांसावेदान्ततर्कतर्कतर्क, वैष्णवदर्शनतीर्थ,
विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितः ।

प्रकाशक :—

श्रीहरिदास शास्त्री

चैतन्यसंस्कृति सेवासंस्था

श्रीहरिदास निवास, कालीदह,

पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा (उ० प्र०)

पिन—२८११२१

प्रकाशनतिथि—१।६।८४

द्वितीय-संस्करण—-१०००

प्रकाशन सहायता—५.००

मुद्रक :—
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास
प्राचीन कालीदह, वृन्दावन,
जिला—मथुरा [उत्तर प्रदेश]
पिन—२८११२१

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

***

विज्ञप्तिः

"प्रेमसम्पुटः" नामक अनुपमव्रजप्रेम तत्त्व परिवेषक ग्रन्थ, सज्जनगण के समक्षे में उपस्थापित हुआ, ग्रन्थकर्त्ता विश्रुत कीर्त्ति श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में व्रजप्रेमका स्वरूप, सरल भाषा द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। देवाङ्गनावेशधारी कृष्ण को देखकर उनको रुग्ण समझकर श्रीभानुनन्दिनी रोगनिराकरणकेलिए विविध उपाय करने पर कौतुकी कृष्ण, व्रज प्रेमतत्त्व अवगत होने के लिए निजमनो दुःख का कारण स्वरूप रास लीला में श्रीकृष्णान्तर्धानादि प्रचेष्टा को लेकर श्रीकृष्ण के प्रति अनेक दोषारोपण किए एवं भानुनन्दिनी का उत्कर्ष प्रतिपादन करके भी श्रीकृष्ण के प्रति श्रीमती राधाकी परमासक्तिभी सन्दिग्ध है। इस प्रकार व्रजीय प्रेम के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण सन्दिग्ध होने पर श्रीमती राधिका की वाणी से व्रज प्रेम स्वरूप अभिव्यक्त हुआ। प्रेम तत्त्व का मूलाधार श्रीराधा प्रेम तत्त्व सम्पुट को खोलकर बोली।

एकात्मनीह रस पूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक
नालोत्थमब्ज युगलं खलु नीलपीतम् ॥१०८॥
यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक
वर्त्यग्रवर्त्यमलदीपयुगं चकास्ति।
तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष
मानन्दयेदखिल पार्श्वगताः सदालीः ॥१०९॥

हम दोनों परस्पर के चित्तमें अवस्थान करते हैं अतएव दोनों ही दोनों के मन को जानते हैं, इस प्रकार जो लोक प्रवाद है, वह आरोपित मात्र है, कारण हम दोनों एकात्मक हैं, अतएव उक्त एक वस्तु के लिए दो होना कभी सम्भव ही नहीं है।

जिस प्रकार किसी एक सरोवर में एक नाल से उत्थित नील एवं पीतवर्णके दो कमल विकसित होतेहैं, उस प्रकार अतिशय गम्भीर परम रसमय एक आत्मा में नील एवं पीतवर्ण के हमारे दो देह एक ही प्राण रूप सूत्र से संग्रथित हैं। अर्थात् हम दोनों के शरीरगत पार्थक्य होने पर भी स्वरूपगत किसी प्रकार भी पार्थक्य नहीं है। कारण श्रीकृष्ण, स्वरूप में आनन्द हैं, और मैं स्वरूप ने ह्लादिनी हूं। शक्ति एवं शक्तिमान् में अग्निएवं उसकी दाहिका शक्ति के समानकुछ भी प्रार्थक्य नहीं है। जब तक स्वरूप एवं शक्ति की और दृष्टि रहेगी तबतक हम दोनों में प्रभेदनहीं मिलेगा, किन्तु परस्पर आस्वादन गत विचार में हम दोनों मूर्त्त रूपमें राधा, आराधिका, कृष्ण, आराध्य संज्ञा से भेद रूप में प्रकाशित होते हैं, कारण लीला को छोड़कर परस्पर का सविशेष आस्वादन नहीं होता है, अथच मूर्त्त न होने पर लीला भी नहीं हो सकती है, इस अभिप्राय में श्रीगोपाल चम्पूकार की एक मनोहर सूक्ति इस प्रकार है—

इमौगौरीश्यामौ मनसि विपरीतौ वहिरपि
स्फुरत्तत्तद्वस्त्राविति बुधजनै र्निश्चितमिदम्।
सकोऽप्यच्छप्रेमा विलसदुभयोः स्फूर्त्तिकतया
दधन्मूर्त्तोभावं पृथगपृथगप्याविरुदभूत्॥

श्रीराधा कृष्ण निज निज हृदय में विपरीत हैं। अर्थात् श्रीराधा के हृदय में श्रीकृष्ण विराजित हैं, और श्रीकृष्ण के हृदय में श्रीराधा विराजित हैं। वाहर भी श्रीराधा कृष्णके अङ्गकान्तिकी भाँति श्याम वर्ण के वस्त्र परिधान करती हैं, एवं श्रीकृष्ण भी श्रीराधाङ्गकान्ति

सदृश पीतवर्ण के वस्त्र धारण करते हैं, यह देखकर बुधगण निर्णय करते हैं कि–किसी एक अनिर्वचनीय पवित्र प्रेम स्फूर्त्ति रूप में विलास करने के लिए मूर्त्ती भाव को अङ्गीकार कर पृथक् रूप में आविर्भूत हुये हैं ॥

और भी जिस प्रकार प्रचुर तेलपूर्ण एक पात्र स्थित एक वर्त्ती के दो मुख के अग्रभाग प्रज्ज्वलित होकर उभय ही उभय के अन्धकार का साक्षात् नाश करते हैं, ठीक उसी प्रकार एक आत्मा में एक प्राण सूत्र से बद्ध हमारे दो देह, परस्पर के दुःख को विदूरित करके समीप स्थित सखीगण को आनन्दित करते हैं, ।

जीव अनादि काल से जिसका अनुसन्धान व्याकुल भाव से कर रहा है, जिसको प्राप्त कर लेने से ही जीव परम पूर्ण होता है—जो श्रीभगवान् के निगूढ़ सम्पद् है, उस भगवत् प्रेम को परम करुण भगवच्छ्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु अयाचित भाव से सर्वत्र वितरण कर गये हैं, भगवद् रसिक भक्ताग्रणी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती महाशय ने उक्त विशुद्ध प्रेम तत्त्व को प्रस्तुत प्रेम सम्पुट ग्रन्थ में अभिनव रीतिसे निबद्ध किया है ।

प्रेम का एक मात्र विषय रसिकेन्द्र शिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेम स्वरूप अवगत होने के लिए कौतुक वश प्रेमका एकमात्र परमाश्रय, एवं उसकी चरम परिणति स्वरूपा अखण्डरस वल्लभा श्रीराधा के निकट में देवाङ्गना वेष में उपस्थित हुये थे । श्रीराधा प्रेमसम्पुट को उद्घाटित कर परिव्यक्त किये हैं, इस प्रकार सरस अनवद्य प्रेम सिद्धान्त पूर्ण ग्रन्थाध्ययन से सुधीगण अतिशय आनन्दित होंगे ।

ग्रन्थ वर्णन की प्रेरणा एवं समय निर्णय को ग्रन्थस्थ अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकारने कहा है। १६०६ शकाब्द के फाल्गुन मास में श्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्डके तीर में अवस्थित होकर श्रीरूपगोस्वामी पाद के वाक्य माधुर्यरूप अमृत पान से पुष्ट व्यक्ति ने इस प्रेम सम्पुट नामक निर्दोष काव्य का प्रणयन किया ।

हरिदासशास्त्री

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

श्रीप्रेमसम्पुटः

प्रातः कदाचिदुररीकृतचारुरामा
वेशो हरिः प्रियतमाभवनप्रघाणे ।
गत्वारुणांशुकतटेन पिधायवक्त्रं
नीचीनलोचनयुगः सहसावतस्थे ॥१॥

नत्वा कृष्ण पदद्वन्द्वं नीलपीताब्जसंज्ञकम्
प्रेम सम्पुट विश्लेषं करोम्यहं यथामति ।
विश्वनाथमहं वन्दे करुणावरुणालयम्
यत्प्रसादान्नियुक्तोऽस्मि प्रेमसम्पुटदर्शने ॥

अथ सोऽयं निखिलकविकुलकुमुदसुधाकरो श्रीमद्भागवत सारार्थप्रतिपादनैकनिपुणः श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ति चरणः श्रीमद्-भागवतीय रससिद्धान्तवर्णनव्याजेन श्रीराधिका गिरिधरयोरभिनव-कौतुक मयींलीलां वर्णयति प्रातरिति, कदाचित कस्मिंश्चिनसमये प्रातः प्रभात समये हरिः परममनोहरः सर्वाकर्षकः श्रीकृष्णः उररीकृत चारु-रामा वेशः–अङ्गीकृत सर्वचित्ताकर्षक ललनावेशः सन् भवन प्रघाणे यावट पुरस्थ श्रीवृषभानुनन्दिन्या वासगृह प्राङ्गणे अरुणांशुक तटेन रक्त वर्णयुक्त वसनाञ्चलेन वक्त्रं श्रीवदनं पिधाय अवगुण्ठनंकृत्वा नीचीन लोचनयुग अवनमितनेत्रयुगलः सन् सहसा अतर्कितरूपेन गत्वा आगत्य अवतस्थे तस्थौ । अत्र प्रायशः वसन्ततिलकं वृत्तं प्रतिभाति तल्लक्षणश्च-ज्ञेयं वसन्त तिलकं तभजाजगौगः । मधुर रसस्य यथार्थ लक्षण प्रदर्शनार्थमेवास्य ग्रन्थस्योत्थिति र्जाता, अतएव श्रीवृषभानु

आराद्विलोक्यतमथो वृषभानुपुत्री
प्रोवाच हन्तललिते सखि पश्य केयम् !
स्वस्यांशुभिर्हरिमणीमयतां निनाय
मत् सद्मपद्मवदनाद्भुतभूषणाढ्या ॥२॥

नन्दिन्याः कैङ्कर्य्याभिलाषी जनएवात्राधिकारी एतेन सम्बन्ध विषय प्रयोजनान्युक्तानि भवन्ति ॥१॥

तदनन्तर कृत्यमाहआरादिति अथो-अनुपम रमणी वेशधारिणः श्रीकृष्णस्यावगुण्ठनावस्थायामवस्थिति दृष्ट्वावृषभानुपुत्रीवृषभानु तनया आरात् किञ्चिद्दूरात् तं परममनोहरं रमणीवेशधारिणंकृष्णं विलोक्य निभाल्य प्रोवाच कथितवती, हन्त ! परमाश्चर्य्यद्योतकमव्ययं सखि ललिते ! पद्मवदना कमलमुखी अद्भुतभूषणाढ्यामनोहर रसाधायक भूषण भूषितायाः स्वस्य अंशुभिःनिज तनुच्छटाभिः मत्सद्म मम गृहं हरिमणिमयतां नीलकान्तमणिमयत्वं निनाय कृतवती सा रमणीयं का कुत आयाता, त्वं पश्य, परिचयं कुरु ॥२॥

गौरगदाधरौवन्दे कृष्ण राधा स्वरूपिणौ
यत्प्रसादात् समर्थोऽस्मि प्रेमसम्पुटवर्णने ।
श्रीनृसिंह पाद पद्मं नत्वा स्मृत्वासभक्तिकं
श्रीप्रेमसम्पुटव्याख्यां करोम्यहं यथामति ॥

एक दिवस प्रातः काल में श्रीकृष्ण मनोहर रमणीवेश धारण पूर्वक श्रीभानुनन्दिनी के घरके आङ्गन में उपस्थित होकर अरुण वर्ण वसनाञ्चल से अपना वदन कमल को ढाक कर लोचन द्वय को अवनत करके सहसा बैठगए ॥१॥

अनन्तर श्रीभानुनन्दिनी कुछ दूरसे उनको देखकर कहने लगी, कैसी आश्यर्य्य की बात है, सखि ललिते ! यह पङ्कजवदनी मनोहर

श्रुत्वा सखीगिरमथो ललिता विशाखे
तं प्रोचतुर्द्रुत मवाप्य तदाभिमुख्यम् ।
का त्वं कृशोदरि कुतः किमु वाथ कृत्यं
ब्रूहीत्यसौ प्रतिवचस्तु ददौ न किञ्चित् ॥३॥
श्रीराधिकाप्यथ वितर्क पुरः सरं तं
पप्रच्छ कौतुकवशादुपगम्य सम्यक् ।

श्रुत्वेति ! श्रीवृषभानुनन्दिन्या निदेशमवाप्य अथो अनन्तरं ललिताविशाखे सखीद्वयं सखीगिरंसख्या वृषभानुनन्दिन्या आदेशवाणीं श्रुत्वा आकलय्य द्रुतमतिसत्वरं तदाभिमुख्यं ललनावेषधारिणः कृष्णस्य समीपं अवाप्य प्राप्य तं कृष्णं प्रोचतुः कथितवत्यो कीदृशं तत् तदेवाह त्वं का, कुतः आगता अथ किमुवा कृत्यंप्रयोजनं अस्ति इति-ब्रुहि, एतत् प्रश्नत्रयं ललिता विशाखे कृतवत्यौ । प्रश्नं निशाम्य असौ मधुरश्यामस्तु किञ्चित इङ्गितेनापि प्रतिवचः उत्तरं न ददौ ॥३॥

यदातेनकिमप्युत्तरं न दत्तं तदा किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह श्रीराधिकेति अथ उत्तरं यदा तेन न दत्तं तदा श्रीराधिका अपि श्रीभानुनन्दिनी स्वयं हि कौतुक वशात् कौतूहलाक्रान्त हृदयेन किमपि

वसन भूषिता रमणी निज अङ्ग कान्ति द्वारा मदीय भवन को इन्द्र नीलमणिमय कर विराजरही है, यह कौन है ? देखो ! ।२॥

अनन्तर भानुनन्दिनी की वाणी को सुनकर ललिता विशाखा सत्वर उन के निकट जाकर कहनेलगी, हे कृशोदरि ! तुम कोन हो ? कहाँ से आई हो ? आने की आवश्यकता क्या है ? यदि कोई आपत्ति न हो तो वृत्तान्त कहकर हमारी सखियों के कौतूहल निवारण करो । अभ्यागता रमणी ने उनके वाक्य का कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया ।३

इसके बाद स्वयं श्रीराधिकाजी परिहास कर मन ही मन अनेक

कात्वं स्वरूप महसैव मनो हरन्ती
देवाङ्गनासि किमहो सुषमेव मूर्त्ता ।।४।।
तूष्णीं स्थितं तदपि तं पुनराह भावि-
न्यात्मानमाशु कथयात्र यदि त्वमागाः ।
जानीहि न स्तव सखीः परमान्तरङ्गाः-
किं शङ्कसे नतमुखि त्रपसेऽथकिंवा ।।५।।

मञ्जुमहित्वस्यावलोकनार्थं उपगम्य निकटं आगत्य सम्यक् वितर्क पुरःसरं परिपूर्ण तर्काद् वाक्जालेन सहितं तं दिव्याङ्गना वेशधारिणं श्रीकृष्णं पप्रच्छ कीदृशी जिज्ञासा तामाह, स्वरूप महसा स्वेनैव कान्त्या एव मनोहरन्ती त्वं का असि ? त्वं किं देवाङ्गना ? अहो ! मूर्त्ता साक्षात् मूर्त्ति स्वरूपिणी सुषमा कान्तिरिव विराजसे ।।४।।

प्रश्नेकृते यदा स निरुत्तरं आसीत् तदा भानुनन्दिन्याः कोवा उपाय कृत इत्यपेक्ष्यायामाह तूष्णीमिति तदपि कृतेऽपि कुशल प्रश्ने तूष्णीं स्थितं मौनाबलम्बनेन स्थितं तं श्रीकृष्णं पुनः भानुनन्दिनीआह, हे भाविनि ! अयि हावभावविशिष्टा नारि ! भूधातौरस्त्यर्थे-इत्ऽपचेति यदि भाग्योदयेन अस्मदीय गृहेऽत्रत्वम्आगाः आगतासि तदा आशु सत्वरमेव आत्मानं स्व परिचय प्रदानं कुरु कथय । तव मौनावलम्वनस्य कारणं किं अत्र लज्जा स्थानं मपि नास्ति नः अत्र स्थितान् अस्मान् तव परमान्तरङ्गाः सुविश्वस्ताः सखीः जानीहि अवधारय ।

संशय लेकर देवाङ्गनावेष धारी श्रीकृष्ण के समक्षमें जाकर जिज्ञासा की हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम्हारी अङ्गकान्ति हमारी मनोहरण करती है, तुम क्या कोई देवाङ्गना हो ? अहो ! मैं तुम्हें मूर्त्ति मती शोभा की भाँति विराजित देख रही हूँ ।।४।।

ऐसा होने पर भी वह रमणी निरुत्तर रही, यह देखकर भानु

निश्वस्य कञ्चन विषाद मिवाभिनीय
वक्त्रं विवृत्य तमखण्डितमौनमुद्रम् ।
सा प्राह हन्त रुजमावहसीति सत्यं
ज्ञातं न तामृत इहेदृशता तवस्यात् ॥६॥

पुनरपि सम्बोध्य पृच्छति हे नतमुखि ! अवनतवदने किं शङ्कसे कथं विभेषि ? अथवा किं लज्जसि ? अत्र लज्जाभयस्थानं नास्तीत्यर्थः ।५

सोत्सुक्येन पुनः पुनः कृते प्रश्ने रमणीवेषधारिणो यादृश्य वस्था आसीत् तामभिनयेनाह-निश्वस्येति निश्वस्य अन्तः खेद प्रकाशकं दीर्घश्वासंत्यक्त्वा कञ्चन अनिर्वचनीयं विषाद ग्लानिमिव अभिनय द्वारेण प्रकटय्यवक्त्रं वदनं विवृत्य प्रत्यावर्त्तनं कृत्वा अखण्डित मौनमुद्रं प्रथमवदेव तूष्णीं स्थितं तं दिव्याङ्गना वेशधारिणं कृष्णं सा भानुतनया प्राह, हन्त ! खेदस्य वार्त्तेयं ! हे सुन्दरि ! ज्ञातं मया सत्यं रुजम्, आवहसि तव हृदये किमागः क्लेश वर्त्तते । तां रुजम् ऋते विना इह अस्मिन् समये तव नवयौवन सम्पन्नायाः ईदृशता मुनिव्रतं न स्यात् ॥४॥

नन्दिनी पुनर्वार कही हे भाविनि ! जव तुम यहाँ पर आई हो तव सत्वर निज परिचय कहकर हमारे कौतूहल को शान्त करो ! हमें अपनी अन्तरङ्गा सखी जानो । हे नतमुखी ! हमारे पास शङ्का अथवा लज्जा की वात ही क्या है ।५।

यह सुनकर वह रमणी एक दीर्घ निश्वास लेकर विषाद भाव को प्रकट करती हुई निज वदन कमल कोफेर कर पूर्ववत् मौन अवलम्बन कर रहगई । इस प्रकार अवस्था को देखकर भानुनन्दिनी देवाङ्गना वेषधारी श्रीकृष्ण को कहने लगी, हे सुन्दरी ! मैं समझ रही हूँ कि तुम्हारें हृदय में कुछ पीड़ा है, ऐसा न होने पर तुम्हारा ऐसाभाव नहीं होता ॥६॥

तां ब्रूहि कञ्जमुखि विश्वसिहि प्रकाशं
मय्येव तत् प्रतिकृतौ च यथा यतेय ।
उद्गीर्ण एव सुहृदन्तिक एति शान्तिं
यन्मानस ब्रज विपाकजतीव्रदाहः ॥७॥
कान्तेन किं त्वसि सम्प्रति विप्रयुक्ता
तथैव वा विगुणतोदयतः प्रतप्ता ।

निवेद्यदुःखं सुखिनो भवन्तीतिन्यायमुररीकृत्य सामवचनमाह तामिति । हे कञ्जमुखि ! कमलानने ! तां कष्टदां दशां ब्रूहि एवं मयि तव अन्तरङ्ग सखिस्थानीयाम् प्रकामम्–सर्वथैव विश्वसिहि विश्वासं कुरु । तत् प्रतिकृतौ तव दुःखस्य अपनोदनेयथा यतेयं प्रयत्नं करोमि । यत् यस्मात् कारणात् मानसव्रण विपाकज तीव्र दाह मानसः आभ्यन्तरीयः यः व्रणः तस्य विपाकात् जातः यः तीव्रः असहनाद् दाहः मर्मपीड़ा इत्यभिप्रायः । सः सुहृदन्तिके शोभन हृदयस्य सुविश्वस्त-जनस्य निकटे उद्गीर्णः सुव्यक्तः एव शान्ति एति प्राप्नोति ॥७॥

आधिकारणसमूहं प्रकटय्य भानुतनया छद्म वेशिनं कृष्णं पृच्छति–कान्तेनेति त्वं किं सम्प्रति अधुना कान्तेन स्व ममतास्पदेन विप्रयुक्ता रहिता असि भवसि ? एकं, द्वितीयञ्चाह वा अथवा तस्य प्रियस्य एवंविगुणतोदयतः प्रतिकूलाचरणदर्शनेन प्रतप्ताग्लानियुक्ता

हे कञ्चमुखि ! तुम तुम्हारी हृदय व्यथा को कहो ! मुझ पर एकान्त विश्वास करो ! तुम्हारे दुःख दूर करनेके लिए मैं साध्यानुसार यत्न करूँगी । कारण आन्तरिक–विषाद रूप व्रण के विपाक से असहनीय यातना को अन्तरङ्ग सुहृद के निकट व्यक्त करने से वह प्रशमित होती है ॥७॥

क्या तुम सम्प्रति अपने प्रियतम से बिछुरगई हो ? अथवा उनका

किं स्वागसस्तदविसह्यतया विभेसि
तत् किं नु कल्पितमहो पिशुनैर्नसत्यम् ॥८॥
किंवा विवोढ़रि मनः सघृणं तवाभू-
न्मन्दे रतं क्वचन पुंसि वरे दुरापे ।
तत्त्वं कटूक्ति पटुना बत मादृशीव
सन्तर्ज्ज्यते गुरुजनेन ततोऽसि दूना ॥९॥

असि ? तृतीयमप्याह-किंवा स्वागसः निजकृत प्रतिकुलाचरणात् तद विषह्यतया तस्य कान्तस्य असहनीयतया विभेषि भीतासि ? अहो ! सर्वापिक्षाविस्मयावहमेवकारणं एतदेव न सत्यम् असत्यम्- मिथ्या, तत् आगः प्रतिकूलाचरणं किं नु पिशुनैः खलैः पिशुनौ खलसूचकौ । कल्पितः स्वकल्पनमेवोपस्थापितम् ॥८॥

आन्तरदुःखस्यापरकारणमपि पृच्छति किम्वेति, किंवा अपरं प्रसिद्धंदुःखकारणं किं तव वर्त्तते । मन्देआलस्यपरायणे अलसरूपे विवोढ़रिभर्त्तरि, सघृणं द्वेष युक्तं तवमनः-अभूत् । वतइति अतिशय दुःख प्रकटने । क्वजनं दुर्लभे वरे श्रेष्ठे पुंसि कान्ते रतम् आसक्तम् अभूत् । तत् तस्मात् कारणात् मादृशी इव त्वं कटूक्ति-पटुभिः श्वश्रूवादिभिः सन्तर्ज्ज्यसे सदा तिरस्कृता भवसि ततः तस्मात् कारणात् दूनासि क्लेशं प्राप्नोसि ॥९॥

दोष देखकर दुःखी हो गई हो, किम्बा उनके पास आपना असहनीय किसी अपराध हो जाने के कारण उससे डर गई हो ? हाय तुम्हारि नाम पर किसी खल व्यक्तिने तुम्हारे प्रियतम के निकट किसी मिथ्या अभियोग उपस्थित कर दिया है ॥८॥

किम्बा पति उत्तम नहीं है, इस लिए तुम्हारे मन में घृणा ! उदित होने पर तुम किसी दुर्ल्लभ पुरुष रत्न में आसक्त हो गई हो ?

कच्चिन्नु तन्वि खरवाक्शरविद्धमर्मा
सौभाग्यलेश मदिरान्धधियः सपत्न्याः ।
सम्भाव्यते त्वयि नचैतदहो परा का
त्वत्तो वहत्वतुलसौभगचारुचर्च्चाम् ॥१०॥

त्वं मोहिनी श्रुतचरी किमु मोहनार्थं
शम्भो-रिवेन्दुमुखि कस्य हठादुदेषि ।

पुनरपि सोत्सुक्यं पृच्छति कच्चिदिति । नु पृच्छायाम् भोः तन्वि मन्दोदरि ! त्वं सौभाग्यलेशमदिरान्धधियः सुभगस्वभावः सौभाग्यम् तस्य लेशएव मदिरा तया अन्धाधी र्यस्याः तस्याः सपत्न्याः खरवाकशरविद्धमर्मा खरः शाणितः तीक्ष्ण वागेवशर तेनविद्ध मर्म्म अन्तरं यस्याः सा कच्चित् ? नहि नहि त्वयि एतत् क्लेशं न च सम्भाव्यते. । अस्य क्लेशस्य मभावना एव त्वयि न वर्त्तते । अहो ! त्वत्तः परा श्रेष्ठा का स्त्री अतुलसौभगचारुचर्च्चाम् अतुलनीय सौभाग्य शोभां वहतु धारयति ॥१०॥

मौनव्रतभङ्गाय पुनरपि सुमधुरघचमा प्रयतते त्वमिति । हे इन्दुमुखि ! चन्द्रवदनि, तव श्रीमुखसन्दर्शनेनैव मनोमुकुरमुल्लासपूर्णं भवेदिति भावः । त्वं किमु प्रश्ने, श्रुतचरी मोहिनी समुद्रमन्थनलीला

एवं तज्जन्य मेरे समान तुमभी कटूक्ति-पटु गुरुजनद्वारा सदा तिरस्कृत हो रही हो ? यह सब क्या तुम्हारे विषाद का कारण हैं ॥९॥

अयि कृशाङ्गि ! तुम्हारी सपत्नी सौभाग्यलेश मद से अन्ध होकर अपने तीक्ष्ण वाक्य वाण द्वारा तुम्हारे हृदय को विद्ध करती है ? नहीं, यह भी स्वभाव नहीं है । कारण तुम्हें छोड़कर अन्य किसी रमणी को अतुलनीय सौभाग्य लक्ष्मीका आश्रय मैं नहीं देखपाती हूँ ।१०

हे इन्दुमुखि ! भगवती पौणमासी के मुख से मैंने मोहिनी की

किञ्चेक्षते यदि हरिस्तदपाङ्ग विद्ध-
स्त्वां कौतुकंभवतितद्व्यतिमोहनाख्यम् ॥११॥
श्रुत्वोत्तरीय परियन्त्रित सर्वगात्रं
रोमाञ्चितं तमुपलभ्य जगाद राधा।
हा किं सखित्वमसि दैहिकदुःखदूना
वक्षोऽथपृष्ठमथवा व्यथतेशिरस्ते ॥१२॥

यां अजितेन मोहिनी वेषं धृत्वा अमृतस्य वण्टनं कृतं देवादिदेवेन महादेवेनेदं श्रुतं, अनन्तरं तस्य तद्रूपस्य दर्शनार्थ मिच्छा जाता, तेनापि हठात् तद्रूपं दर्शयित्वा शम्भुर्मोहितः। इति प्रसिद्धा पौराणिकी वार्त्ता वृद्धा प्रमुखादस्माभिः श्रुता। शम्भोः महादेवस्य इव अत्र कस्य जनस्य मोहनार्थं मुग्धता सम्पादनाय हठात् अकस्मात् उदेषि? किञ्च सम्प्रति त्वदपाङ्गविद्धः तव भावपूर्ण कटाक्ष वाण विद्धः सन् हरिः परम मनोहरः यदि अकस्मात् त्वां ईक्षते तत् तदा व्यतिमोहनाख्यं अन्योन्य मोहनाख्यं कौतुकं आस्वादनीयं भवति ॥११॥

श्रीभानुनन्दिन्याः वचनं श्रुत्वा कीदृश्यवस्था जातात्वांवर्णयति श्रुत्वेति श्रीगान्धर्विकायाः वचनं श्रुत्वा उत्तरीय परियन्त्रित सर्वगात्रं उत्तरीयसङ्गेन आच्छादित सर्वशरीरं रोमाञ्चितं रोमविकारयुक्तं

वात सुनी है, वह मोहिनी ही क्या तुम हो! शङ्कर के समान किसी व्यक्ति को सहसा मोहित करने के लिए ही प्रकट हुई हो? उस वार हर को मोहित किएथे, तुम मोहितनहीं हुई किन्तु सम्प्रति यदि श्रीहरि तुम्हारे प्रति कटाक्ष निक्षेप करे तो तुमभी मुग्ध हो जाउगी, इसप्रकार तुमदोनों के परस्पर मोहन से एक अपूर्व कौतुक होगा ॥११॥

श्रीभानुनन्दिनी के वाक्य सुनकर देवाङ्गणा वेश धारी श्रीकृष्ण रोमाञ्चित होकर अपनी उत्तरीय द्वारा अपना सर्वाङ्ग आच्छादन

वात्सल्यतः पितृपदैर्बहुमूल्यमेव
प्रस्थापितं यदखिलामयशातनाख्यम् ।
तैलं तदस्ति भवनान्तरतो विशाखे
शीघ्रं समानय तदापय सार्थकत्वम् ॥१३॥
तैलेन तेन किलमूर्त्तिमतामदीय
स्नेहेन सुभ्रुवमिमां स्वयमेव साहम् ।

तं देवाङ्गनावेशधारिणं श्रीकृष्णं राधा जगाद कणयाञ्चकार, हा सखि ! त्वं किं दैहिक दुःख दूनासि ? अथवा किं देह पीड़ा अस्ति ? ते तव वक्षः वक्षः स्थले अथ पृष्ठम् पृष्ठे, अथवा शिरः मस्तके व्यथते पीड़ा अस्ति ॥१२॥

अवगुण्ठनवती सन्दर्शशरीरक्लेशमनुमीय सत्वरं तदपनोदनाय प्रयतते । वात्सल्यत इति, हे विशाखे ! प्रियसखि ! पितृपदैः मदीय पितृचरणैः अखिलामयशातनाख्यम् निखिलरोगापहारकं यत् बहु मूल्यम् अनर्घम् एव तैलं पाक तैलं प्रस्थापितं प्रेषितं, तत् भवनान्तरतः आगारमध्ये अस्ति वर्त्तते । तत् तैलं शीघ्रं सत्वरं समानय आनय एवं तस्य तैलस्य सार्थकत्वं रोगनिवारणेन आपय प्रापय च ॥१३॥

परिचर्य्या कौशलं तैलस्य महत्त्वंचकथयति तैलेनेति ॥ साहम् भानुनन्दिनी अहं स्वयमेव मूर्त्तिमता साक्षात् स्नेह पूर्णेन इव तेनतैलेन

किया । यह देखकर श्रीराधाबोली सखि ! तुम्हारे देह कष्ट हे क्या ? तुम्हारे वक्ष, पृष्ठ, मस्तक में कुछ पीड़ा है क्या ? ॥१२॥

हे विशाखे ? पितृ चरणने स्नेह से सब व्याधि विनाशक किमती जो तेल मेरेलिए भेजा है वह घरमें है तुम सत्वर उसे लेआओ एव उससे इनकी शरीर पीड़ा दूरकर तेल को सार्थक बनाओ ॥१३॥

मेरे प्रति पिताजी का जो स्नेह है उसका मूर्त्तिमान रूप यह

अभ्यञ्जयाम्यखिलगात्रमपास्ततोदं
नैपुण्यतः सखि शिरोमृदुमर्द्दयामि ।।१४।।
नैरुज्यकारि वरसौरभवस्तुवृन्द
प्रक्षेप चारुतरकोष्ण: पयोभिरेनाम् ।
संस्नापयामि विगतारुषमास्य पद्म-
मुल्लासयाम्यथ गिरापिविराजयामि ।।१५।।

इमां रोगक्लिष्टां सुभ्रुवं ललनां अभ्यञ्जयामितैलमर्द्दनादिकंकरोमि अखिलगात्रं सर्वाङ्गम् अपास्ततोदं अपास्त विगत: तोद: व्यथा यस्य-तत् भवतु । हे सखि विशाखे ! नैपुण्यत: कौशलेन शिर: मस्तकं मृदु यथास्यात् तथा शनैः शनैः मर्दयामि संवाहयामि ।।१४।।

क्लेशापहारकोपायान्तरमुद्भावयति नैरुज्येति । नैरुज्यकारि वर सौरभ वस्तु वृन्द प्रक्षेप चारुतर कोष्णपयोभि: नैरुज्यकारि रोग विनाशकं वरसौरभयुक्तं सर्वोत्तम सुगन्ध युक्तं यत् वस्तु वृन्दं पदार्थ समूहं तस्य प्रक्षेपेण पदार्थ समुहस्य संमिश्रणेन चारुतरैः सुखकरैः कोष्णैः स्वल्पोष्णैः पयोभिः जलैः एनां ललनां सस्नापयामि सम्यक् रूपेण स्नानंकारयामि, तेन स्नापनेन विगतरुषं अपगतक्लेशं आस्य पद्मं मुख कमलं उल्लासयामि अथ अनन्तर गिरापि विराजयामि उक्तोपचारेण क्लेशापनोदनानन्तरं श्रीवदने स्मितयुक्तवचनमपि विलसतीतिभाव: ।।१५।।

तेल है इसलिए मैं अपने हाथों से ही इस सुन्दरी के अङ्ग में तेलमर्दन कर दूँ और निपुणता के साथ मृदुतासे मस्तक में लगा दूँ । तब इसके अङ्ग की सब पीड़ा दूर होगी ।।१४।।

और रोग शान्ति कर उत्कृष्ट सौरभ युक्त सुखकर ईषत् उष्ण जल लेआओ मैं उस से इन को स्नान कराकर व्यथा दूरकरूँगी ।

वाचा मया मृदुलयातिहितप्रवृत्त्या
स्नेहेन-चानुपधिना परमादृतापि ।
नो वक्ति किञ्चिदधुनेव कटूकृतास्या
तिष्ठेदियं कपटिनो यदि हन्त सख्यः ॥१६॥
अस्या रुजस्तदपरां करवै चिकित्सां
यां प्राप्य तन्वसुमनोनिखिलेन्द्रियाणाम् ।

भेदनीत्या मौन प्रशमनोपायमुद् भावयति युग्मकेन, वाचेति । हे प्रिय सख्यः, मया भानुतनया, मृदुलया वाचा सुकोमलया वाण्या अतिहित प्रवृत्त्या अतिशय मङ्गल करणेच्छया अनुपधिना अहेतुक स्नेहेनच परमादृतापि यदि किञ्चित् नो अस्मान् न वक्ति न कथयति अपितु अधुना इव साम्प्रतं यथा तिष्ठति तद्वदेव । कटूकृतास्या अप्रसन्न वदनातिष्ठेत् तदा इयं कपटिनी, भवति इति जानामि । अस्यानास्ति किमपि रोगं, भावगोपनं कृत्वा कापट्यं प्रकटयतीति भावः । तत् तदा अस्या रमण्याः रुजं रोगस्य अपरां भिन्नां चिकित्सां करवै, कारयामि, याम् चिकित्साम् प्राप्य तन्वसुमनोनिखिलेन्दियाणां शरीर

जैसे सब रोग की शान्ति होती है वैसे इसचिकित्सा से भी इनके देह इनका मुख भी उल्लसित होगा, और हमारे साथ वार्त्तालाप करने में समर्थ होगी ।।१५।।

मैंने मधुर कथा कही और तैल मर्दनादि हितकर कार्य्य में भी रत हुई । स्नेह के साथ परम आदर भी किया तथापि यदि ये कुछ भी न कहकर चुपचाप बैठे रहे और मुख भी उसी प्रकार विषण्णा रहे तो समझुँगी कि—यह कपटिनी है । इनका कोई भी पीड़ा नहीं है, यह प्रकृत रोग गोपन कर कपटता कर रही है । जो भी हो मैं इनके रोग की चिकित्सा अन्य कुछ करूँगी धन्वन्तरि प्राप्त दिव्य रस द्वारा

व्याधिः प्रशाम्यति भवेदतिपुष्टिरेषां
धन्वन्तरिप्रहितदिव्यरसैरिवाद्धा ।।१७।।
कुञ्जाधिराजकरकञ्जतलाभिमर्ष-
मस्याउरस्यतितरां यदि कारयामि ।
सेयं हसिष्यति वदिष्यति सीत्करिष्य
त्यस्मांश्चहासयितुमेष्यति काञ्चिदाभाम् ।।१८।।

प्राण मनः अखिलेन्द्रियाणां व्याधिः, प्रशाम्यति, धन्वन्तरि प्रहित दिव्य रसैः धन्वन्तरि प्रेषितैः दिव्यरसैः अमृतैः इव अद्धासाक्षात् एषां शरीरा दीनाम् अतिपुष्टिर्भवेत् ।।१६--१७।।

सस्फुटं स्वोत्प्रेक्षितमभिनवमुपायमाह। कुञ्जाधिराजेति । यदि सम्भावनायां । अस्याः कामिन्याः उरसि वक्षसि कुञ्जाधिराज कर कञ्जतलाभिमर्ष श्रीकृष्णस्य कर कमल स्पर्शन अतितराम् मुहुर्मुहुः कारयामि सम्पादयामि,तदा सेयं उक्तावस्थागतापि सुन्दरी हसिष्यति, वदिष्यति, सीत्करिष्यतिरतिकालीनाव्यक्त मुखशब्दं करिष्यति;अधिकं किमु वक्तव्यं कामपि शोभां प्राप्य अस्मान् अजस्रं हासयितुं काञ्चिदा भाम् शोभां एष्यति, च, तदा शोभा विलासविच्छित्ति प्रभृतीनां भृशं प्रकाशोभवेदिति भावः ।।१८।।

प्राण मन एवं सब इन्द्रिय व्याधि की शान्ति होगी । विशेष कर इस से इन के शरीर की पुष्टि भी होगी ।।१६--१७।।

कुञ्जाधिपति श्रीकृष्ण के करकमल तलका स्पर्श यदि एकवार इनके वक्षःस्थल में उत्तमरूपसे करा दिया जाय तो जो बात करने में असमर्थ है ऐसी असाध्य व्याधि इनकी है, तब यह तत्काल बोल उठेगी । हँसेगी, सीत्कार करेगी, अधिक क्या कहना है ? यह अधिक कान्ति धारण कर हमें अजस्र हँसावेगी ।।१८।।

श्रुत्वा गिरं स पिहितस्मितहास्यपद्म-
मुन्नीयरम्यतरसव्यकराङ्गुलीभिः ।
उत्सार्य्यकिञ्चिदलकानवगुण्ठनञ्च
न्यञ्चत्तरं कियदुदञ्चयति समूर्द्धनः ॥१६॥
किञ्चिज्जगाद रमणी रमणीयकण्ठ-
सौस्वर्य्यमेव रचयन् वचनं यदेषः ।

ललनाया मुनिव्रत खण्डनाय स्वोद्भावितोपायेन यादृश्यवस्था जाता तां वर्णयति। श्रुत्वेति। भानुतनयाया गिरं सुमधुरां वाणीं श्रुत्वा निशम्य स दिव्याङ्गनावेषधारी हरिःपिहितस्मितम् आच्छादित हास्यम् न्यञ्चत्तर मधोलम्बितं आस्यपद्मं वदन कमलं उन्नीय किञ्चित् उत्थाप्य रम्यतर सव्य कराङ्गुलीभिः मनोहर वामहस्ताङ्गुलीभिः अलकान् केशपाशान् किञ्चित् उत्सार्य्य मूर्द्धनःशिरोदेशात् अवगुण्ठनञ्च मुखाच्छादनं कियत् उदञ्चयति अपसारयतिच ॥१६॥

अनन्तरं यादृशी अवस्था सुन्दर्य्या जाता तामेव कथयति। किञ्चिदिति । एषः दिव्याङ्गनावेषधारी कान्तः रमणी रमणीय कण्ठ सौस्वर्य्यं रमण्याः ललनायाः रमणीयं मनोहारि यत् कण्ठस्य सौस्वर्य्यं शोभन स्वरता तत् एव रचयन् प्रकटयन् यत् किञ्चित् वचनं

श्रीभानुनन्दिनी के वाक्य से सुन्दरी के वदने में मृदु हास्य रेखा का उद्गम होने परभी उसे छिपाकर रमणीय वामहस्तकी अङ्गुलीयों से अलकावली को सम्भल कर मस्तक से अव गुण्ठन को थोड़ा हटाया ॥१६॥

देवाङ्गना वेष धारी कृष्ण रमणी के कण्ठ स्वर तुल्य कण्ठस्वर माधुरी द्वारा जो कुछ वचन कहे थे येसव वचनामृत को सखी गण के साथ भानुनन्दिनी जी चकोरी के समान पान कर किसी अनिर्वचनीय

सातच्चकोर ललनेव पपौ चिराय
काञ्चिच्चमत्कृतिमवाप च सालिपालिः ॥२०॥
देव्यस्मि नाकवसतिः शृणु यस्य हेतो-
स्त्वामागमं सुवदने विधुरीकृतात्मा ।
कुत्रापि मे विविदिषास्ति विवक्षितेऽर्थे
सम्पादयिष्यति परा त्वदृते कुतस्ताम् ॥२१॥

जगाद । सालिपालिः आलिवृन्दमहिता सा भानुनन्दिनी तत् वचनं चकोर ललना इवचकोर रमणी इव चिराय अनवरतं पपौ कञ्चित् आनिर्वचनीयं चमत्कृतिम् आस्वादनं अवाप च ॥२०॥

छद्म वेशधारिणी रमणी श्रीराधां प्रत्याह देवीति । ललना कथितवती, अयि श्रीराधे । सुवदने । नाकवसतिः त्रिदेवालये वसतिः वासः यस्याः सा अहं देवी अस्मि भवामि, स्वर्गे खलु देवतानामेव वसतिरस्ति । विधुरी कृतात्मा विधुरीकृतः विह्वलीकृतः आत्मा मनः यस्याः सा अहं यस्य हेतोः यदर्थं त्वाम् तव समीपम् आगमम् आगत वती तत् श्रृणु अवधारय । कुत्रापि विवक्षिते कथितुमिष्टे अर्थे विषये मे मम देव्याः विविदिषा विदितुमिच्छा वर्त्तते, तां ज्ञातुमिच्छा त्वदृते त्वयाविना परा अपवा का कुतः सम्पादयिष्यति का अपि सम्पादयितुं समर्था न भवेदितिभावः ॥२१॥

चमत्कार आनन्दानुभव करने लगी ॥२०॥

तव वह मनोहारिणी नवीना युवती बोली: मैं देवी हूँ, मेरा निवास स्वर्ग में है, मैं जिस लिए व्याकुल होकर तुम्हारे पास आई हूँ उसे सुनो । मेरी कुछ जानने की इच्छा है, उसे तुम्हें छोड़ कर दूसरा कौन पूर्ण कर सकेगा ॥२१॥

श्रीभानुनन्दिनी बोली—सुन्दरी तुमने अपने को देवो कह कर

नेवाभ्यधास्त्वमनृतं यदुदेषि देवी-
त्यस्माभिरित्थ मधुनैव हि पर्य्यचेष्ठाः ।
यन्मानुषीषु कतमास्ति भवत् सदृक्षा
कान्त्यानयानुपमया त्वमिवेक्षसेत्वम् ।।२२।।
यत्त्वय्यहं सरलधी वितथं वितर्क
वैविध्यमप्यकरवं शरदम्बुजास्ये ।

तस्या वचनं निशम्य श्रीराधिका उवाच नैवेति । हे सुन्दरि ! त्वं यत् आत्मानं देव्यस्मीति द्युलोकनिवासिनी अस्मि इति यत् अभ्यधाः उक्तवती तत् कथनं अनृतं अलीकं नैव भवति, अस्माभिः अधुना एव हि इत्थं तव कथानुरूपमेव पर्य्यचेष्ठाः परिचिता । त्वमितिभावः । यत् यस्यात् कारणात् मानुषीषु मरणधर्मशीलेषुमध्ये कतमा भवत् सदृक्षा भवत्सदृशा अस्ति वर्त्तते, त्वम् अनया उपमा रहितया त्वमिव कान्त्या ईक्षसे ।।२२।।

सानुनयेन अपराध प्रशमनार्थं श्रीभानुतनया दैन्यं विडम्बयति, यदिति । अयि शरदम्बुजास्ये हे शारदीय पद्मवदने । स्वाभाविक सरलधी सरलबुद्धिरहं भानुतनया, यत् प्रश्नसमये कान्तेन किं त्वमसी

जो परिचय दिया है वह मिथ्या नहीं है, कारण तुम जो देवी हो-यह हमने भी अनुभव किया है, कारण मनुष्य के मध्य में तुम्हारे सदृश कौन है ? तुम्हारी यह मनोहर कान्ति की उपमा नहीं है । मैं तुम्हें तुम्हारे समान ही देखरही हूँ ।।२२।।

हे शारद कमलानने । तुम क्या पति विरहिणी हो गई हो, इत्यादि बहुविध वितर्क के साथ जो कुछ तुम्हें मैंने परिहास किया है, वे सवही सरल अन्तःकरण से ही किया है । अतएव इस विषय में मेरा अपराध न समझना, जब तुम मेरे प्रति प्रीति कर रही हो तब मैं भी

तत् पर्य्यहासिषमितोऽस्तु न मेऽपराध
स्त्वं स्निह्यसीह मयि यद्यभवं त्वदीया ॥२३॥
किं सङ्कुचस्ययि सखी त्वममूस्त्वदीयो
देवी जनोऽप्यहमभूवमिति प्रतीहि ।
त्वत् प्रेमरूप गुण सिन्धु कणानुभूते
र्दासीभवाम्यहमपीति सदाभिमन्ये ॥२४॥

त्यादिभिः वितथं वितर्कं वैविध्यं विविध वितर्कमपि अपि अकरवं तत् पर्यहासिषम् । इतः एतस्मिन् विषये मे मम भानुनन्दिन्याः अपराधः न अस्तु त्वं यदि इह मयि सिह्यसि तदा अहं तदीया अभवम् ॥२३॥

श्रीभानुनन्दिन्याः दैन्य वचनं श्रुत्वा देवाङ्गनावेशधारी श्रीकृष्ण उत्तरयति किमिति । स अचकथयत् अयि भानुनन्दिनि ! त्वं मम सखी अभूः मम सखीत्वेन आत्मानं समर्प्य किं सङ्कुचसि ईदृशं सङ्कोचं कथं करोषि ? आत्मपरिचयं कथयति अहं देवीजनः अपि मानुष्या समं देवीजनस्य सख्यंनभवेत, असदृशत्वात् तथापि त्वदीयः तव सखी अभुवम् इति प्रतीहि सम्यक् विश्वासं त्वं कुरु । त्वत् प्रेमरूप गुण सिन्धु कणानुभूतेः त्वदीय प्रेम रूप गुण समुद्रस्य विन्दोः अनुभवात् अहमपि देवी जनोऽपि तव मानुष्याः दासी भवामि इति सदानित्यमेव अभिमन्ये ममहृदि निरन्तरमभिलाषो वर्त्तते ॥२४॥

अधुना स्वहृदय मन्जुषामुद्घाट्य स्वाभिलाषं श्रीभानुनन्दिनीं

तुम्हारी हो गई हूँ ॥२३॥

देवाङ्गना वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा तुम मेरी सखी होकर इतनी सकुचाती क्यों ? मैं देवी होकर भी तुम्हारी हो गई हूँ, यह निश्चित जानना । तुम्हारे प्रेम रूप गुण समुद्र का एक कण मात्र का अनुभव कर तुम्हारी दासी होने की मेरी निरन्तर इच्छा ही रहीहै ।२४

यद् बच्म्यहं तदवधेहि यतो विषादो
दुर्वार एष तमपाकुरु संशयं मे ।
नैवाधुनापि विरराम दरापि हृद्भू
स्तापस्तदीय लपनामृत सेकतोऽपि ॥२५॥
वृन्दावने ध्वनति यः सखि कृष्णवेणु
स्तद्विक्रमः सुरपुरे प्रबलत्व मेति ।

प्रति प्रकटयति यदिति । साम्प्रतं अहं देवी यत् हृदयाभिलाषं वच्मि कथयामि तत् हृदयवार्त्तां अवधेहि एकाग्रतया श्रवणं कुरु । यतः यस्मात् कारणात् एषः वक्ष्यमाण दुर्वारः दुःखेनापि अपाकर्त्तुमशक्यः विषाद दुःखं तं विषाद मे मम देवीजनस्य संशयम् त्वं अपा कुरु दूरी कुरु । अधुनापि सम्प्रति अपि त्वदीय लपनामृत सेकतः त्वदीय वचनामृत सेकात् अपि हृदभूः हृदयोत्पन्नः तापः दरापि मनागपि नैव विरराम विरतो नाभूत् ॥२५॥

देवीजनः स्वविषादं सम्प्रति वर्णयति वृन्दावन इति । हे प्राण सखि राधिके । यः कृष्णवेणुः भूमण्डलस्य वृन्दावने ध्वनति निनादं करोति, तद्विक्रमः तस्य प्रभावः सुर पुरे स्वर्गे प्रबलत्वम् प्रबलरूपता एति प्राप्नोति, यतः यस्मात्कारणात् साध्वीततेः प्रतिव्रतारमणी सभूह

सम्प्रति मेरी मन की बात को मन लगाकर श्रवण करो । मेरे मन में जो दुर्निवार विषाद उत्पन्न हुआ है उसे तुम विदूरित करो । तभीतक तुम्हारे कथामृत सेवन से भी मेरा हृदय ताप स्वल्पमात्र भी दूर नहीं हुआ है ॥२५॥

हे सखि ! इस वृन्दावन में जो वेणु ध्वनि होती है उसका प्रभाव हमारे स्वर्ग पुर में प्रवेश कर इतना प्रबल हो गया है कि उससे साध्वी रमणी गणके मन पतियों के कण्ठ आलिङ्गन करना तो दूसरी

साध्वी ततेरपि मनः सघृणं यतोऽभूत्
कण्ठोपकण्ठ मिलन स्मरणेऽपि पत्युः ॥२६॥
श्लिष्ट्वैव मुञ्चति सुरः सवितर्कमात्म
कान्तां द्रुतं ज्वलदलात निभाङ्गयष्टिम् ।
हालाहलं मुरलिका निनदामृतं यत्
पीत्वैव सातनुमहाज्वरमूच्छिताभूत् ॥२७॥

स्यापि तदीतरस्य का वार्त्ता, मनः अन्तरिन्द्रियं पत्युः स्वामिनः कण्ठोप कण्ठ मिलन स्मरणेऽपि ताः सम्प्रति स्व स्व पतिं नालिङ्गितवत्यः वेणुध्वनिश्रवणात् पूर्वं यदालिङ्गनं कृतं तदपि कार्यं स्मृत्वा सघृणम् अभूत् तासांमनः तत् कार्य्यं प्रति घृणामनु भवतीति भावः ॥२६॥

सा वदति इत्यधिकं किं वच्मि, श्लिष्टेति, यत् हालाहलं विष संपृक्तं मुरलिकानिनदामृतं वेणुरवामृतं पीत्वा एव श्रुत्वेव सा सुराङ्गना अतनु महाज्वर मूच्छिर्ता कामज्वर जर्जरिता अभूत् । अपि देवगणः अपि ज्वलदलातनिभाङ्गयष्टिं ज्वलदङ्गारसदृशांत्तप्त मात्राम् आत्मकान्तां निज निज प्रेयसीं श्लिष्ट्वा आलिङ्ग्य एव सवितर्कं यथा स्यात् तथा द्रुतं मुञ्चति त्यजति ॥२७॥

बात पहले जो कण्ठ आलिङ्गनकर चूके थे उसका भी स्मरण कर मन घृणा से भरजाते हैं ॥२६॥

अधिक और क्या कहें—उस हलाहल मिश्रित अमृत के समान वेणु ध्वनि कर्ण में प्रविष्ट होनेसे ही देवाङ्गनागण इस प्रकार अतनुमहा ज्वर से मुग्ध हो जाती हैं, कि उन के शरीर ज्वलन्त अङ्गार सदृश उत्तप्त हो जाते हैं, यह देख कर उन के पति गण 'हाय' ! अकस्मात् यह क्या हुआ" इस प्रकार वितर्क कर जल्दी से जल्दी उनसब को छोड़ देते हैं ॥२७॥

अस्मत् पुरेऽस्ति नहि कापि जरत्यतः का
स्तर्ज्जन्तु का नु निखिला अपि तुल्यधर्माः ।
का वा हसेयुरपरा यदिमाः सतीत्वं
विप्लावयन् मुरलिकानिनदोव्यजेष्ट ॥२८॥
एवं यदि प्रववृते प्रतिवासरं स
वेणु ध्वनिः प्रभवितुं विबुधाङ्गनासु ।

सोत्सुक्येन सा पुनरपि कथयति हे सखि ! अपरञ्च शृणु,अस्म दिति । अस्मात् पुरे स्वर्गलोकेनहि कापि जरतीवृद्धा अस्ति, तत्र काल धर्म प्रभावाभावात्सर्वे तरुणवयसि स्थिताः सन्ति, अतः वैषम्या भावात् काः काः नु वितर्के तर्ज्जन्तु आत्मीयत्वेनसर्वे वर्त्तन्ते अतः तिरस्कारस्य वार्त्ता अपि तत्रनास्ति, अपितु निखिलाः सर्वाः अपितुल्य धर्माः समान चित्तवृत्तयः वर्त्तन्ते अपराः काःवा हसेयुः.यत् यस्माद्धेतोः अवसरं प्राप्य मुरलिका निनदः वंशीध्वनि सतीत्वं पातिव्रत्यं विप्लावयन् विचूर्णयन् इमाः सुराङ्गनाः सुरसुन्दर्य्यं व्यजेष्ट ॥२८॥

मुरलीनिनदस्य अनुसन्धित्सा कदाजाता तस्या विवरणं कथयति एवमिति । एवं पूर्वोक्त प्रकारेण प्रतिवासरं प्रति दिवसं स वेणुनादः विबुधाङ्गनासु देवपत्नीषु प्रभवितुं स्वप्रभाव विस्तारयितुं

सखि और भी सुनो हमारे स्वर्ग पुर में कोई भी वृद्धा नहीं है, सब ही तरुणी है, अतएव कौन किसको तर्ज्जन करें ? वेणुध्वनिश्रवण के साथ ही सब की एकदशा हो जाती है। सुतरां कोई किसी को परिहास कर नहीं सकती । कारण मुरली ध्वनि सतीयों के सतीत्वधर्म प्रवाहित कर सुररमणी गण के उत्तर विजयपार्ह है ॥२८॥

जब इस प्रकार प्रतिदिन ही वंशी ध्वनि देवाङ्गनागण के उपर प्रभाव प्रकाश करने लगी तो एकदिन मैंने मनही मन विचार करने लगी

तर्ह्येकदा हृदि मयैव विचारितं हा
कोऽयं कुतश्चरति वादयितास्य कोवा ॥२६॥
इत्थं दिवः समवतीर्य्य भुवीह साधु
वंशी वटेऽ वसमहं कतिचिद्दिनानि ।
दृष्टो हरेरनुपमो विविधो विलासः
कान्तागणः प्रियसखाल्यपि पर्य्ययामि ॥३०॥

प्रवृत्तो ऽस्ति, तर्हि तस्मिन्नेवावसरे एकदा एकस्मिन् दिने मया एव स्वयमेव नतु अन्येन समं आलोच्य हृदि मनसि विचारितं चिन्तितं, हा अयं कः ? कस्य ध्वनिरियं ? कुतः चरति ? कस्मात् स्थानात् प्रसरति ? अस्य वादयिता वादनकर्त्ता वा कः ? इति ॥२६॥

अनन्तरं तदनुसन्धानार्थं पृथिव्यामागमन प्रकारमाह इत्थमिति अनन्तरं इत्थं अनेन प्रकारेण चिन्तयित्वा दिवः देवलोकात् समवतीर्य्य पृथिव्यां अवतीर्य्य अहम् देवाङ्गना, इह भुवि अस्यामेव पृथिव्यां वंशी वटे वंशीवटाख्यनामकस्थाने कतिचित् दिनानि चतुः पञ्च दिवसानि साधु यथा स्यात् तथा सुखपूर्वकमेव देवलोक निवासिनः क्षुधापिपा-सादिकं नास्तीत्यतः सुखेन अवस्थानं जातं । अवसम् निवासं कृतवती एवं हरेः परम मनोहरस्य अनुपमः उपमा रहितः विविधः अनेकप्रकारः विलासः व्यवहार दृष्टः अवलोकितः । कान्तागणः प्रेयस्यः प्रियसखाली प्रियसखिवृन्देन समं अपि पर्यचायि परिचितवती ॥३०॥

हाय ! यह ध्वनि किस की है ? कहाँ से आ रही है ? इसका वादक कौन है ? ॥२६॥

अनन्तर मैं उस वंशी ध्वनि का अनुसरण करते हुए स्वर्ग से पृथिवी में आकर कई दिन तक वंशी वट में आनन्द से रही एवं तुम्हारे साथ श्रीहरिकाअनुपम विविध विलास भी देखा, तदीय कान्तागण एवं

राधा सनर्म्म मधुराक्षरमाह धन्ये
त्वं गण्यसेसुरपुरे वरचातुरीभाक् ।
अन्या पुन र्बलवदुत्कलिका कृपाणी
कृत्तन्द्रियैव सुमनस्त्वमपादपार्थम् ॥३१॥
मन्द भ्रमद्भ्रु मधुरस्मितकान्तिधारा
धौते विधाय रदनच्छदने स चाह ।

देवीजनस्य वचनं श्रुत्वा भानुतनया यद्वचनं कथितवती तत् प्रकारमाह राधेति तस्यावचनं श्रवणानन्तरं राधा सनर्म्ममधुराक्षरं कौतुक पूर्णानुकूलवचनं यथास्यात्तथा आह, धन्ये सौभाग्यवति । सुर पुरे स्वर्ल्लोके त्वमेव वरचातुरीभाक् श्रेष्ठ कौशलवती इति गण्यसे, गुण ग्रहणशीलताया मूर्द्धायमाणा भवसीतिभावः । अन्या अपरा पुनः त्वामन्तरा अन्या न सौभाग्यवती, यतस्ताः बलवदुत् कलिका कृपाणी कृत्तेन्द्रिया बलवती या यत्कलिका उत्कण्ठा साएव कृपाणी अस्त्रविशेष तया कृत्तानि छिन्नानि इन्द्रियाणि यस्याः सा एव सुमनस्त्वम् देवतात्वं अपार्थं व्यर्थं अपात् धृतवती ॥३१॥

श्रीराधिकाया मधुरपरिहासमयवचनश्रवणानन्तरं सा कृष्ण ललना येन प्रकारेण प्रत्युत्तरं दत्तवती तत् प्रकारमाह मन्देति । सः

सखा के साथ भी मेरा परिचय हो चुका है ॥३०॥

उक्त कथन श्रवणानन्तर श्रीराधा परिहास युक्त सुमधुरवाणी से बोली--अयि धन्ये ! सुर पुरी मध्य में तुम ही उत्कृष्ट चतुरा हो। तुम्हें विना और कोई भी सुर ललना चतुरा नहीं है, कारण वे सब बलवती उत्कण्ठारूपा खड़्ग के द्वारा छिन्न चित्त होकर भी अनर्थक सुमना नाम धारण करती हैं ॥३१॥

श्रीभानुनन्दिनी जीके मधुर परिहास वाक्य श्रवणानन्तर मन्द

राधे परां स्वसदृशीं नहि विद्धि किं भोः
शक्येऽवलोकयितुमपीह परेण पुंसा ॥३२॥
किंवा परेण पुरुषेण हरेर्विलास
मेवान्वभू रहसि साधु यदर्थमागाः ।
तद् ब्रुहि किं तव विवक्षितमत्र मध्ये
नर्म्मातनोमि यदि मामकरोः सखीं स्याम् ॥३३॥

छद्म ललनावेश विभूषितः श्रीकृष्णः रदनच्छदनेओष्ठाधरौ मधुरः। स्मित कान्ति धारा धौते मधुरं मनोहर स्मितं हास्य तस्य हास्यस्य कान्तिः शोभा तस्याः धारा अविरल प्रवाहरूपाः ताभिः धौते विधाय स्नापितं कृत्वा मन्द भ्रमद्भ्रू स्वल्प चञ्चलेभ्रू यथास्यात्तथा आह, प्रथमं मधुरं सम्बोधनं कृतंभोः राधे। परां अपरां ललनां स्वसदृशीं निजतुल्यां नहि बिधि न जानीहि। सर्वंत्रस्वतुल्य ममनं न शोभनं। आह किम् इह अत्र भुवि परेणपुंसा। परपुरुषेण अवलोकयितुम् अपि शक्ये, अहं प्रतिव्रता, परपुरुषस्य मद्दर्शन सामर्थ्यनास्तीति भावः ॥३२॥

तस्योक्ति श्रवणानन्तरं श्रीराधा प्राह किंवेति। त्वं देवाङ्गना अपि अत्र भूर्लोके यदर्थम् यस्य प्रयोजनाय आगाः आगतवती त्वं हरेः परम मनोहरस्य विलासम् विविधां क्रीड़ां एवं रहसि एकान्ते साधु यशास्यात् तथा उत्तमरूपेण अन्वभूः अनुभूतवती, अतः हेतोः परेण

मन्द भ्रू नर्त्तन के साथ मधुर हास्य कान्ति द्वारा अपने अधर औष्ठ को रञ्जित करती हुई ललना बोली–राधे! दुसरे को भी अपना समान न जानो। यहाँपर परपुरुष क्या कभी मुझे दर्शन करने में समर्थ है?

पश्चात् राधिका बोली–तुम जिसलिए यहाँपर आई हो उस हरिके विलास को एकान्त में अनुभव करने से तुम्हें और पर पुरुष से प्रयोजन ही क्या है? अवतुम कहो! मेरे पास तुम्हारे जिज्ञास्य

नर्म्मातनुध्व सखि नर्म्मणि का जयेत्तां
प्राणा स्त्वमूस्त्वमयि मे कियदेव सख्यम् ।
त्वं मानुषी भवसि कन्त्वममराङ्गणास्ता
मूर्द्धनैव ते गुण कथा पुणतोर्नमन्ति ॥३४॥
नेयं स्तुति स्तव न चापि तटस्थता मे
नापि ह्रियं भज वदाम्यनृतं न किञ्चित् ।

पुरुषेण वा किम् प्रयोजनमस्ति अत्र मदुक्त विषये मत्सविधे च तव किं विवक्षितं जिज्ञास्यमस्ति तत् ब्रूहि कथय । एतावता यत् यस्मात् इमां राधां स्वां सखीं निजसखी वाक्योपन्यासेन अकरोः कृतवती तत् तस्मादेव कारणात् अहं कथोपकथनमध्ये नर्म्म कौतुकंवाक्यं आतनोमि करोमि ॥३३॥

तदुत्तरे देवाङ्गनावेषविभूषितः श्रीकृष्णः प्राह हे सखि राधे नर्म्म परिहासं आतनुध्व विस्तारय । नर्म्मणि परिहासे का रमणी त्वां भानुतनयां--जयेत् जेतुं शक्नुयात् । पुनरपि सोत्साहं सम्बोधयति अयि राधे ! त्वया यदुक्तं सख्यं तत्तु कियदेव अस्य किमपि महत्वं नास्ति, अपितु--त्वं मे मम स्वल्ललनायाः प्राणाः जीवातुः असुः । त्वं मानुषी भवसि मनुष्यलोके तिष्ठसि, किन्तु ताः सर्वाः अमराङ्गणाः पुणतीः स्वात्मानं पवित्राः कुर्वत्तीः ते तव गुणकथा मूर्द्ध्ना एव अत्या दरेण नमन्ति ॥३४॥

क्या है ? अभी तक जो मैंने तुम्हारे साथ परिहासादि किया है, वह केवल तमने मुझे अपनी सखी मान लिया है इस लिए ॥३२॥

देवाङ्गना वेशधारी श्री कृष्ण ने कहा सखि ! तुम परिहास करो तुम्हारी बराबरी कौन कर सकता है । अयि राधे ! तुम्हारे साथ मेरा सख्य है, यह और अधिक क्या है ? तुम जो मेरे प्राणके समान हो तुम मानुषी हो, किन्तु देवाङ्गनागण पवित्र होने के लिए तुम्हारी गुण

सिन्धोः सुतापि गिरिजापि न ते तुलायां
सौन्दर्य्य सौभगगुणैरधिरोढ़ुमीष्टे ॥३५॥
प्रेम्ना पुनस्त्रिजगदूर्द्ध्व पदेऽपि काचित्
त्वत्साम्यसाहसधुरं मनसापि वोढ़ुम् ।

स तु छद्मवेशी कृष्णः सव्याजं श्रीराधां प्रत्याह नेयमिति । हे सखि राधे ! इयं मदुक्तिः,तव स्तुतिः अतिशयोक्तिर्न भवति । अतः कारणात्ह्रियं लज्जां न भज न कुरु । न चापिमे मम तटस्थता उदासीनता अस्ति, किञ्चिदपि विन्दुमात्रं अपि अनृतं मित्थ्यां न वदामि । सिन्धु सुतापि लक्ष्मीः गिरिजापि श्रीदुर्गा सती अपि सौन्दर्य्यसौभगगुणैः ते तव तुलायां समानतां अधिरोढुं न ईष्टे न समर्थाभवति ॥३५॥

छद्मवेशी कृष्णः पुनराह प्रेम्नेति । पुनः कथयामि पूर्वोक्त कथनेन तव सौभाग्यस्य सम्यक् निर्णयं न जातं अपितु त्रिजगदुद्र्ध्वंपदेऽपि त्रिपादविभूत्याम् वैकुण्ठलोकेऽपि काचित्रमणी प्रेम्ना प्रियममतया त्वत् साम्यसाहसधुरं तवसमानतायाः साहसभरं तव समानतां वाञ्छितुं मनसापि समर्था न भवेत् वोढ़ुं वहनंकर्त्तुं अभिलाषं कर्त्तुं न शक्नोति समर्था न भवति । तत् तस्मात् हेतोः तव प्रेमवर्णनम् न केवलं मयाकृतं

कथा को सब के सब नतमस्तक से प्रणाम करती हैं ॥३४॥

हे सखि ! मैं तुम्हें स्तुतिकर नहीं कहती हूँ अतएव तुम लज्जिता न हो ! तुम्हारे प्रति मेरी उसासीनता नहीं है, में कभी भी मित्थ्या नहीं कह सकती हूँ । सिन्धु सुता एवं गिरिजा भी सौभाग्य गुण से तुम्हारे समान नहीं है, तुम इस प्रकार सुन्दरी तथा सौभाग्य वती हो ।

और भी मैं कहती हूँ । वैकुण्ठादि लोक में भी कोई स्त्री तुम्हारे समान प्रेमवती होने की बात तो दूर है होने का साहस भी कोई नहीं कर सकती हैं, यह जो केवल मैं कह रही हूँ यह नहीं है कैलास शिखर मैं हैमवती की सभा में तुम्हारे ये सब गुण वर्णना मैंने

शक्नोतिनेत्यखिलमेव मया श्रुतं तत्
कैलास शृङ्गमनु हैमवतो सभयाम् ।।३६।।
श्रुत्वा महानजनि मे मनसोऽभिलाष
स्तद्दर्शनाय समपूरि स चापि किन्तु ।
ता स्तदन्तरिह यो रभसाददीपि
तेनास्फुटन्न कठिनो हि ममान्तरात्मा ।।३७।।

अपितु प्रेम वर्णनम् अखिलम् परिपूर्णरूपेण एव मया कैलास शृङ्गमनु कैलास शिखरे रम्ये हैमवती हिमालय कन्यायाः सभायां श्रुतमिति । अत एव मदुक्तं अतीव प्रामाणिकमिति भावः ।।३६।।

पुनरपि स्वहृदयमणिमञ्जुषामुद्घाटच स्वाभिलाषं वर्णयति श्रुत्वेति । तब गुण गणान् श्रुत्वा च निशम्य अनन्तरं त्वद्दर्शनाय तव साक्षात् अवलोकनाय मे मम देवी जनस्य मनसः अन्तःकरणस्य महान् अत्युत्कटः अभिलाषः आन्तरिकेच्छा अजनि जातः,सः महान् अभिलाषः अपि त्वां साक्षात् नयनद्वयेन निभाल्य समपूरि परिपूर्णोऽभवत् । आदौ तव गुण श्रवणं पश्चात् गुणानुरूपमेव सौम्यवपुः दर्शनेन कर्ण नयनयो विवादः शान्तोऽभूत् । एतावता मनसि शान्तिः सत्त्वेऽपि किन्तु तदन्तः तव सौम्यवपु दर्शनानन्तरमेवइह मयि ताप विहीने देवी जने यः तापः क्लेशः रभसात् अकस्मात वेगात् अदीपि दीप्तः, तेनप्रबल तमेनतापेन मम अन्तरात्मा न अस्फुटत् विदीर्णो नाभूत् अस्यकारण मेव यतः यस्मात् कारणात्मम आत्मा कठिनः वज्रतुल्योहि एवम्।।३७

सुनी है ।।३६।।

तुम्हारे गुणों की कथा सुनकर तुम्हें देखने की बड़ी इच्छाहुई । तुम्हें देखकर वह अभिलाष पुरी हो गई है,किन्तु उसके बाद मेरे अन्तःकरण में अतिशय ताप प्रज्ज्वलित हुई । जिस से मेरो अन्तरात्मा

कोऽसौ तमाशु कथयेति मुहुस्तयोक्तो
वक्तुं शशाक न स वाष्पनिरुद्धकण्ठः ।
अश्रुप्लुतेक्षणमथास्य मुखं स्वयं सा
स्वेनाञ्चलेन मृदुलेन ममार्ज्जराधा ॥३८॥
स्थित्वा क्षणं धृतिमधादथ तामुवाच
प्रेमा तवायमतुलोऽनुपधिर्बलीयान् ।

एतावता दुःसह तीव्र वेदानायावार्त्तां श्रुत्वा प्रेमवती सा राधा उवाच क इति । तदुक्तः असौ तापः कः तम् आशु कथय इति कीदृश स्तापस्तव वर्त्तते सत्वरं ममसविधे संतापं प्रकटय्य कथय । ईदृशं वचनं तया पुनः पुनः मुहुः राधया उक्तं, तस्या वचनं च्छुत्वा देवाङ्गना वेश धारी श्रीकृष्णः वाष्प निरुद्धकण्ठः गदगदायमान कण्ठः जातः अतः कण्ठावरोध कारणात् वक्तुं उत्तरं दातुं न शशाक न समर्थोऽभून । अथ ईदृश्यवस्थादर्शनानन्तरं अश्रुप्लुतेक्षणं अश्रुपुर्णाकुलेक्षणं तस्य मुखं सा करुणामयी राधा स्वयं नतु सखीद्वारेण स्वेन अञ्चलेन नतु अङ्गमार्ज्जनीयवस्त्रान्तरेण ममार्ज्ज, नयनजलमपसारितवती ॥३८॥

विदीर्ण होने की रही किन्तु वह अति कठोर होने के कारण विदीर्ण नहीं हुई ॥३७॥

इस प्रकार दुःसह वेदना की कथा सुन कर प्रेमवती राधिका बोली—सखि ! तुम्हारे दुसह तीव्र ताप कैसा हैं । शीघ्र मुझे कहो ! श्रीराधिका पुनः पुनः ऐसा कहने पर भी उनका कण्ठ रुद्ध हो जानेके कारण बात करने की शक्ति न रही अतएव वे कुछ भी न कह सकी । नयन जल से उनका वदन कमल सिक्त होने लगा । यह देखकर श्रीराधिका स्वयं निज वसनाञ्चल द्वारा धीरे धीरे नयन एवं वदन पोंछने लगी ॥३८॥

कृष्णेति कामिनि बभुव कथं दुनोति
स्वां स्वांश्च विश्वसिति योऽत्यपदेऽप्यभिज्ञः ॥३८
सौन्दर्य्य शौर्य्य वरसौभगकीर्त्तिलक्ष्मी
पूर्णोऽपि सर्वगुणरत्नविभूषितोऽपि ।

तदनन्तरं यादृशः अभिनयो जात स्तवं वर्णयति स्थित्वाति। सा कमलनयनललना क्षण राधा वसनाञ्चलस्पर्शात स्वल्प कालं स्थित्वा पश्यात् धृतिं धैर्य्यम् अगात् प्राप्तवती अनन्तरं कण्ठरोधावस्था या अपमारणेन अथ तां सकरुणहृदयां राधां उवाच, कथितवती। हे मुग्धे। सरले। अतिकामिनि निर्मर्याद कामुके कृष्णे सर्वाकर्षके चञ्चले तव भानुतनयायाः अयम् ईदृशः अतुलः अनुपम अनुपधिः स्वाभाविकः बलीयान् प्रौढ़ःप्रेमा असमोद्ध्र्वममत्वं कथं केन प्रकारेण कारणाभावात् कथं कार्यस्य सम्भवः बभूव जातः ? अस्य परिणामं सक्रिय दृष्टान्तेन दर्शयति। यः कोऽपि अभिज्ञः सर्वतः प्रकारेण ज्ञान वान् जनः अपि किमुतः अनभिज्ञोजनः अत्यपदे अननुरूपपात्रे विश्वसिति विश्वासं करोति सः अभिज्ञो जनः अनभिज्ञस्यत् का वार्त्ता निजं आत्मानं स्वान् स्वान् स्वस्यआत्मीयांश्च परिजनान्दुनोति दुःखाकरोति ॥२६॥

श्रीकृष्णस्य दोषं पुनः कथयति सौन्दर्य्येति। असौ सर्वानुभुतः सर्वप्रसिद्धश्च श्रीकृष्णः सौन्दर्य्यवरसौभग कीर्त्तिलक्ष्मी पूर्णः सौन्दर्य्य

तब देवी क्षणकाल इस अवस्था में रहकर धैर्य्य के साथ श्रीराधिका के प्रति कहने लगी, मुग्धे ! अतिशय कामुक कृष्ण के प्रति तुम्हारे यह अनुपम, अकैतव एवं बलीयान प्रेमकैसे हुआ ? तुमने जान सुनकर ऐसा अविश्वासी एवं अयोग्य व्यक्ति को विश्वास कर अपने को एवं अपने जन को दुःखी किया है ॥३८॥

कृष्ण सौन्दर्य्य, शौर्य्य, अनुपमसौभाग्य एवं कीर्त्ति सम्पत्ति से परिपूर्ण एवं सर्वगुण रत्न से विभूषित होने पर भी उन में एक ही दोष

प्रेमाविवेचकतमत्वमसौ विभर्त्ति
कामित्व हेतुकमसौ श्रयितुं न योग्यः ।।४०।।
तस्मिन् दिने बहु विलस्य मुहुः प्रकाश्य
प्रेमा त्वया सरभसं रजनौ तु कुञ्जे ।
सङ्केतगामृजुधियं भवतीं विधाय
काञ्चित् परां स रमयन्नकपटी जहौ त्वाम् ।।४१

सुन्दरता प्रति अङ्गानां अनुपमत्वेन वर्त्तये, शौर्य्यं वीरत्वं असमोद्ध्वं वर्त्तते, वर सोभग सर्वोत्तम सौभाग्यं कीर्त्तिः सर्वदा जनहितकर कार्य करणेन ख्यातिः यशः एव लक्ष्मीः शोभा सम्पत्तिः,तया पूर्णः परि पूर्णोऽपि सर्व गुण रत्न विभूषितोऽपि निखिलगुणरत्नालङ्कृतोऽपि कामित्व हेतुकं कामुकतया यस्य श्रीकृष्णस्य तथाभूतं दोषरूप प्रेमाविवेचकतमत्वं प्रेम्नि अविवेचकतमत्वं विचारहीनत्वं विभर्त्ति धारयति । अतः असौ श्रीकृष्णाश्रयितुं अवलम्बयितुं न योग्यः भवति ।।४०।।

अग्रिमसप्तश्लोकेन श्रीकृष्णदोषानुट्टङ्कयति तस्मिन्निति, सदृष्टान्तंवदति पश्य ! तस्मिन्दिने तत्रदिवसि त्वया समं बहु विलस्य अनेन बहुविधविलासं कृत्वा मुहुः पुनः सरभसं औत्सुक्येन समं त्वयि कृत्रिमंप्रेमप्रकाश्य रजन्यांरात्रौतु कुञ्जे लतादि पिहित स्थाने ऋजुधियं अकपटमतिं भवतीं सङ्केतगां सङ्केतस्थलाय अभिसारिणीं विधाय कृत्वा स कपटी छलपरायणः 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् इति

है जिस से समस्त गुण महत्त्व चला जाता है। उस दोष का नाम है "प्रेमाविवेचकतमत्व' अर्थात् प्रेम की विवेचनामें अतिशय असामर्थ्य । अतिशय कामी होने पर यह दोष होता है, अतएव ऐसे व्यक्ति से प्रेम करना तुम्हें उचित नहीं है ।।४०।।

उस दिन कृष्ण,दिन में तुम्हारे साथ अनेक प्रकार विलास कर

यत्त्वं तदा व्यलप एव सखी स्तुदन्ती
वल्लीः पतत्रि विततीरपि रोदयन्ती ।
सर्वं तदालिनिभृतं मयकान्यभासे
वंशीवट स्थिततया बलिता रुषैव ।।४२
रासे तथैव विहरन्नपरा विहाय
प्रेम त्वयैव सहसा प्रकटीचकार

रीत्या काश्चित् अनिश्चितां रमणीं परां अन्यां रमयन् रमयितुं त्वां जहौ त्वां परित्यक्तवान् । त्वया सममहर्निशं रमणेनापि तस्य मनसि अन्यरमणिविलासाकाङ्क्षासदैव वर्त्तते ।।४१।।

अन्यांघटनां स्मारयन् वदति, यदिति । हे आलि । हे सखि ! त्वं भानुतनया, तदा तस्मिन् समये, सखीः ललिता प्रमुखाः सखीः तुदन्तीं पीड़यन्ती वल्लीः लता समूहान् पतत्री विततीः पक्षी सकलान् अपि रोदयन्ती सती यत् व्यलपः त्वं विलापं कृतवती एव तत् सर्वं पूर्वोक्त रूपं वलितारुषाबलवता । मर्मपीड़या एव मयका मया वंशीवट स्थितत्वया निभृतं रहसि न्यभालि अवलोकितम् ।।४२।।

बिपरीत दृष्टान्तेन आह रास इति । तथैव यथा त्वां विहाय

उत्सुकता के साथ तुम्हारे प्रति मुहुर्मुहुः कृत्तिम प्रेमप्रकट किया था, तुम सरलमति होने के कारण तुम्हें रजनी में सङ्केत स्थल में अभिसार भी कराया । पीछे कपटी कृष्ण अन्य किसी रमणी के साथ रमण करने के लिए तुम्हें छोड़ कर चले गये थे ।।४१।।

उस समय तुम विलाप कररही थी, विलाप सुन कर तुम्हारी सखीगण, लता, पक्षिगण भी दुःखित होकर रोदन कर रहे थे, मैं बंशीवट में छिप कर वह सब देखकर मनमें अतिशय व्यथापाई ।।४२

उस प्रकार रास में विहार करते करते अपर गोपाङ्गना गण

स्थित्वाक्षणं स भवतीममुचद्वनान्त
रेकाकिनीं रतिभरश्रमखिन्नगात्रीम् ॥४३॥
तर्हि प्लुतं विलपितं गहना च मूर्च्छा
चेष्टाप्यतिभ्रममयी तव यद्यदासीत् ॥
व्याप्यैव हा बहुजनूंषि हृदि स्थितं मे
तत् कष्टमष्टविधयैव तनोः प्रकृत्या ॥४४

अपरां गच्छति, तथैव प्रकारेण अपरां विहाय त्वामेवानुसरति, रासे बहुभिर्नर्त्तकीभि मिलित्वा नृत्यावसरे त्वया सह विहरन् रमयन् सहसा अतर्कितेन अपराः गोपीः विहाय त्यक्त्वा त्वयि प्रेम प्रकटी चकार। क्षणं स्थित्वा अव्यवस्थितचित्तः एव सः श्रीकृष्णः रतिभर श्रमखिन्न गात्रीं रति प्राचुर्येण श्रमेण खिन्नं क्लान्तं गात्रं यस्याः सा तां भवतीं राधां एकाकिनीं सखी जनरहितां वनान्तः अरण्यमध्ये अमुचत् मुमोच, त्वक्तवान् कृष्णः निष्करुण एव ॥४३॥

तदा तस्याः याहश्यवस्था जाता तां साभिनयन वर्णयति, तर्हीति तर्हि तदा श्रीकृष्णे त्वां त्यक्त्वा गतवति तव प्लुतम् त्रिमात्रत्वेन उच्चारितं अत्यूद्ध्र्वं विलपितं सशब्दरोदनं गहना निविड़ा मूर्च्छा संज्ञा लोपावस्था अतिभ्रममयी अतिशय भ्रम पूर्णा चेष्टा शरीर क्रिया जाता किमुतमानसिकी क्रिया इति यत् यत् आसीत् तत् कष्टं दुःखं मे मम

को छोड़कर तुम्हारे प्रति प्रेम प्रकट किये। क्षण काल तुम्हारे साथ रहकर विलास श्रमसे तुम अतिशय थक जाने पर भी सहसा अकेली तुम्हें वन में छोड़कर भाग गये थे ॥४३॥

तब तुम्हारे उच्च विलाप घन घन मूर्च्छा अतिशय भ्रममयी चेष्टा इत्यादि जो दशा तुम्हारी हुई थी, वह दशा अनेक जन्म तकमेरे हृदय में अङ्कितरहेगी जन्मावधि मृत्यु पर्य्यन्त शरीर की जो आठ

देवी जनोऽस्मि हृदि मेववनु कष्टमासीत्
दैवाद् यशस्विनि बभूव भवद्दिदृक्षा ।
मामागमथ्य बत साकृत कीलविद्धां
यस्यास्ति नैव सखि निर्गमनेऽप्युपायः ॥४५॥
सन्दानितं त्वयि मनो न दिवं प्रयतुं
स्थातुञ्च नात्र तिलमात्रमपीत्थमीष्टे ।

हृदि हृदये अष्टविधया जन्म मृत्यु ज्वरा व्याधि शोक मोह प्रकारया तनोः शरीरस्य प्रकृत्या निसर्गेण सहैव बहुजनूंषि अनेक जन्मानि व्याप्यव पर्य्यन्तं सदैव स्थितम् ॥४४॥

स्वान्तः क्लेशं मनिदर्शनं वर्णयति देवीति । हे यशस्विनि हे यशः पूर्णे ! अहं देवीजनः अस्मि, स्वर्ल्लोकनिवासिनः मम ववनु कष्टम् आसीत दुःखमात्रं स्वर्ल्लोकं न स्पृशति अतः कुतः दुःखाशङ्का किन्तु अकस्मादेव हे सखि ! दैवात् अदृष्टवशात् मम देवीजनस्यापि भवद् दिदृक्षा भवताम् दर्शनेच्छा बभूव जाता, अयमेव वत खेदस्य विषयः, सा दर्शनेच्छा आगमय्य सहसा मनसि आविर्भूय मां देवीजनमपि कीलविद्धां शङ्कु विद्धाम् अकृत । यस्य कीलस्यनिर्गमनेऽपि वहिर्गमन विषयेऽपि उपायः साधनं नास्त्येव ॥४५

चरमंमनोभीष्टं प्रकटयति सन्दानितमिति । त्वयि यशस्विनीम्

अवस्थाएँ हैं उसकी किसी अवस्था में भी उस दुःख को भूल न सकूँगी ॥४४॥
मैं देवी हूँ ! हे यशस्विनी ! मेरे हृदय में कभी भी कष्ट न था किन्तु हाय ! हठात् तुम्हें देखने के लिए आकर ही मेरे हृदय में कील गड़ गया है हे सखि ! वह कील सम्प्रति निकाल ने का और कोई उपाय नहीं है ॥४५॥

सखि ! तुम्हें और एक वात मैं कहूँ । तुम्हारे प्रति मेरा मन

उद्घूर्ण्णते प्रतिपदं न पदं लभेत्
अद्याभवम् त्वयि चिरात्प्रकटी कृतात्मा ॥४६
कृष्णात् पुन र्बहुविभेमि न धर्म लोक
लज्जेदयाध्वनि कदापि न पान्थतास्य ।

राधायाम् सन्दानितं आवद्ध देवीजनस्य मम मनः न दिवं स्वश्लोकं प्रयातुं गन्तुं न चात्र अथवा भवत्याः सविधे तिलमात्र मपि अत्यल्प कालं अपि इत्थं अनेन प्रकारेण स्थातुं अवस्थातुं इष्टे समर्था न भवामि । अपितु प्रतिपदं प्रतिक्षणं उद्घूर्णते मनसि चञ्चलतावर्द्धते पदं न लभते, अचलम्वनं न प्राप्नोति । अस्मात् कारणात् चिरात् बहु कालादनन्तरं अद्य साम्प्रतं त्वयि भवत्याम् प्रकटी कृतात्मा आत्म प्रकाशं कृतवती ॥४६॥

पुनरपि स्वान्तस्थां विभीषिकां कथयति कृष्णादिति । कृष्णात् तव कान्तात् पुनः भूयः बहु विभेमि सदा अपर्य्याप्तं भयंकरोमि, भयस्य कारणं तावदिदमेव, अस्य कृष्णस्य धर्मलोक लज्जे सामाजिक रीति नीतिः, लज्जा च ते उभे अपि न वर्त्तेते, दयाध्वनिकरुणामार्गे कदापि कस्मिन्नपि काले पान्थता च न अस्ति ! पदार्पणं अपि न कृतवान् । सोदाहरणं उक्तार्थं द्रढ़यतिः । यः प्रसिद्धः तव मनोमोहन श्रीकृष्णः

ऐसा आबद्ध हो गया है कि स्वर्ग को जानेके लिए भी मेरी इच्छा नहीं हो रही है, और यहाँ पर तिलमात्र समय भी रहने की शक्ति नहीं हो रही है । मेरा मन पग पग पर उद्घूर्णा युक्त होकर किसी तरह धैर्य्य धारण करने में असमर्थ है । इसलिए में आज अनेक दिनों के बाद तुम्हारे पास आकर मनकी बात को प्रकट किया ॥४६॥

मैं कृष्णसे डर गई हूँ । कारण उनमें धर्म एवं लोक लज्जा का अत्यन्त अभाव है, विशेष कृष्ण कभी दया के पथ में पदार्पण किया है,

बाल्ये स्त्रियास्तरुणिमण्य चिराद्वृषस्य
वत्सस्य मध्यमनु यो व्यधितैव हिंसाम् ॥४७
गान्धर्विकाह सुभगे त्वयि कापिशक्ति
रार्कषिणी किल हराविव सन्ततास्ति ।
यन्निन्दसि प्रियतमं तदपि प्रकामं
यच्चित्तमात्मनि करोष्यनुरक्तमेव ॥४८

वाल्येप्रथमे वयसि स्त्रियाः पुतनायाः तरुणिमणि कैशोरे वृषस्य वृषभासुरस्य हत्यां कृतवान् मध्यम् अनु मध्ये वयसि पौगण्डे वत्सस्य वत्सासुरस्य हिंसां प्राणधातं व्यधित अकरोत् एव ॥४७॥

देवीजनस्य वचनं श्रुत्वा गान्धर्विकायाः स्वाभिप्राय वर्णनं प्रकटयति गान्धर्विकेति । गान्धर्विका श्रीराधा आह प्राह, हे सुभगे हे सत् कुलोत्पन्ने ! सकलमनोहरे हरौश्रीकृष्णे यथा कापि अप्रतिहता आकर्षिणी शक्तिः सन्तता नित्या अस्ति वर्त्तते तथा त्वय्यपि वर्त्तते । यत् यस्मात् कारणात् मम प्रियतमं श्रीकृष्णं त्वं निन्दसि अपकर्षं सूचयसि तदपि उक्तकारणादपि मम चित्तं प्रकामं सर्वथैव आत्मनि निन्दाकारिणीं त्वां प्रति आनुरक्तम् एव अनुकूल्यमेव करोषि विदधासि ॥४७॥

अनन्तरं श्रीराधा देवीजनं प्रत्याह त्वमिति ! त्वं--देवीजनः मे

यह बोध ही नहीं होता है। पहले पहले वाल्य काल में स्त्री वध पौगण्ड में वत्सवध एवं प्रथम कैशोर में ही वृषहत्या किए हैं ॥४७॥

तब राधिका बोलीं, अयि सुभगे ! कृष्णकी भाँति तुम्हारी भी किसी अव्यभिचारिणी शक्ति है, जिससे तुमने मेरे प्रियतम की इतनी निन्दा की है, तथापि मेरा चित्त तुम्हारे प्रति यथेष्ट अनुरक्त कर रही है ॥४८॥

त्वं मे सखी भवसि चेन्नदिवं प्रयासि
नित्यस्थितिं व्रज भुवीह मया करोषि ।
तत् प्रेमरत्नवरसम्पुटमुद्घटय्य
त्वां दर्शयामि तदृते न समादधामि ॥४९॥
हन्ताधुनापि नहि विश्वसिषि प्रसीद
दासी भवामि किमु मां नु सखीं करोषि ॥
त्वं शाधि साधु धिनु वा तुद वा गतिर्म्मे
राधे त्वमेव शपथं करवाणि विष्णोः ॥५०॥

मम श्रीराधायाः यदि सखी विश्वास पात्री भवसि, अपरञ्च चेत् यदि दिवं स्वर्गं न प्रयासि गन्तुं नइच्छसि तदा इह व्रजभूमि मया सह मत् सान्निध्ये नित्य स्थितिं नित्यंवासं करोषि तत् तदा प्रेमरत्न सम्पुटं प्रेम रत्न पेटिकां उद्घटय्य उन्मोचयित्वा त्वां दर्शयामि, मदुक्त उपाय मन्तरा तदृते अन्यथा न समादधामि न शक्नोमि ॥४९॥

श्रीराधायाः सन्दिग्धवचनं श्रुत्वा देवाङ्गनावेषधारी श्रीकृष्णः प्राह, हन्तेति, हन्तः अयन्तु सातिशयखेदस्य विषयोवर्त्तते अधुनापि अद्यापि मयि नहि विश्वसिषि नु वितर्के भोः राधेः ! मां सखीं करोषि किमु, सखीत्वेन मां कथं द्रक्ष्यसि अहन्तु तवदासी भवामि । त्वं मयि प्रसीद, मां साधु यथास्यात् तथा यथेष्टम् शाधि अनुशासनं कुरु, अहन्तु श्रीविष्णोः शपथं करवाणि, धिनु प्रसन्नोभव, अथवा तुद अप्रसन्नोभव,

---

देवाङ्गना वेषधारी कृष्ण बोले हाय मेरे प्रति अभीभी तुम्हारा विश्वास नहीं हो रहा है ? राधे ! तुम मुझे सखी होने के लिए अनुरोध क्यों कर रही हो ?

मैं तो तुम्हारी दासी हूँ । तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ, और जो इच्छा मुझे आज्ञा करो । तुम मुझे अनुग्रह करो और निग्रह ही

वक्तुं तदा प्रववृते वृषभानुनन्दि-
न्याकर्ण्य तां विविदिषामिह चेद्दधासि ।
प्रेमेयदेवमिदमेव न चेदमेतत्
यो वेद वेदविदसावपि नैववेद ।।५१।।
यो वेदयेत् विदिदिषुं सखिवेदनं यत्
या वेदना तदखिलं खलु वेदनैव ।

त्वमेव ममगतिः शरणम् भवसि ।।५०।।

त्वमसि मम शरणं ममकोऽपि नास्ति इति ललना वेषविभूषि तस्य कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा श्रीवृषभानुनन्दिनी यत्वक्तुं प्रक्रमते तदे वाह वक्तुमिति । त्वमेव मम गतिः, नान्याः इति तां वाचम् आकर्ण्य निशम्यतदा तदनन्तरं वृषभानुनन्दिनी वक्तुं प्रववृते कथितुं प्रक्रमते । हे सखि, तव चेत् यदि इह प्रेम विषये विविदिषां ज्ञातुं इच्छां दधासि धारयसि, तदा श्रृणु । प्रेम विषये इयत् एवं इदम् । प्रेम्नः प्रमाणतः इयत् प्रकारतः एवं स्वरूपतः इदमेव न इति एतत् यः वेद असौ जन वेदवित् सर्वशास्त्रवेत्ता अपि स प्रेमाणं नैव जानाति ।।५१।।

प्रेमसिद्धान्तं भूयोऽपि कथयति यो वेदयेदिति । हे प्राणसखि

करो, मैं श्रीविष्णु की शपथ लेकर कहती हूँ ओर मेरा कोई नहीं है तुमही मेरी एकमात्र गति हो ।।५०।।

उनके कथन सुन कर भानुनन्दिनी कही-सखी ! यदि तुम्हारा प्रेम कथा सुनेनेकी इच्छा हो तो सुनो । जो प्रेम के विषय में कहते हैं कि प्रेम को मैं जानता हूँ । प्रेम का परिमाण इतना है, प्रेम इस प्रकार है, यह ही प्रेम का स्वरूप है, यह प्रेमका स्वरूप नहीं है, वे वेद वेत्ता होने पर भी प्रेम के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं ।।५१।।

हे सखि, जो प्रेम विषय अवगत होने के लिए इच्छुक व्यक्ति

प्रेमा हि कोऽपि परएव विवेचने स
त्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि ॥५२॥
द्वाभ्यां यदा रहितमेव मनः स्वभाव
सिंहासनोपरि विराजति रागि शुद्धम् ।

यः कोऽपि विज्ञजनः विविदिषु प्रेम विज्ञातुं अखिलाषिणं वेदयेत्, ज्ञापयेत् यत् वेदनं ज्ञापनं याच वेदना अनुभवः च, तत् अखिलं पूर्वोक्त प्रकारमखिलंवस्तु खलु निश्चये वेदना अनुभवः अनुकरण मात्रमेव, अनुपदार्थ ज्ञान। यतः प्रेमा हि निश्चये, कोऽपि अनिर्वचनीयः परः परम पदार्थः एव. यत्र विवेचने सति अन्तर्दधाति। तिरोभवति ! असौ प्रेमा अविवेचनेऽपि अलं यथेष्टं अन्तर्दधाति तिरोभवति सेयं उभयतः पाशा रज्जुरिति न्यायस्य विषयो-भवेत् ॥५२॥

प्रेम्नो निर्दुष्टलक्षणं वदति द्वाभ्यामिति। यदा यस्मिन् समये रागि रागयुक्तं स्वेष्ट विषये अत्युत्कट तृष्णा युक्तं एवं शुद्धं स्वेष्टेतेर विषये अभिलाष शून्यं मनः अन्तः करणं द्वाभ्यां विवेचना-अविवेचनाभ्यां रहितं वियुक्तं सत् स्वभाव सिंहासनोपरि विराजति प्रियसुखैक तात्पर्य्येण स्वयं देदीप्यमानं भवति तदा तच्चेष्टितैः प्रियसुखे स्वानु

को प्रेम विषय का अवगत कराता, जो कुछ जानाया जाता है, और जो कुछ जाना जाता है, सब ही प्रेम के विषय में एक विड़म्वना मात्र ही है, प्रेम ऐसा एक पदार्थ है, जो विवेचनाका विषय होने पर अन्तर्धान करताहै एवं अविवेचना का विषय होने पर भी अन्तर्धान करता हैं ॥५२॥

जब अन्याभिलाष शून्य शुद्ध रागयुक्त मन विवेचना एवं अविवेचना को छोड़ कर स्वभावरूप—सिंहासन पर विराजित होता है तव प्रिय के सुख में जो सुख होता है, वह सुख ही स्वभाव में अधिरूढ़

तच्चेष्टितैः प्रियसुखे सति यत्सुखंस्यात्
तच्च स्वभावमधिरूढ़मवेक्षयेत् तम् ॥५३॥
लोकद्वयात् स्वजनतः परतः स्वतोवा
प्राणप्रियादपि सुमेरुसमा यदि स्युः ।
क्लेशास्तदाप्यतिबली सहसा विजित्य
प्रेमैव तान् हरिरिभानिव पुष्टिमेति ॥५४॥

कूल्येन प्रियस्योल्लासमनुभूय स्वस्य यत् सुख स्वात्, तच्च सुखं स्वभावं अधिरूढ़ं सत् तं प्रेमाणम् अवेक्षयेत ॥५३॥

प्रेमलक्षण दृष्टान्तेन द्रढ़यति लोकद्वयादिति । सिंहो यथा हस्ति गणान् विजित्य तेनैव विजय कर्मणा स्वस्य पुष्टिमेति तद्वत लोकद्वयात् स्वजन शत्रुवर्ग निजदेह देह सम्बन्धीय विषयो यः अथवा प्रियतमादपि यदि सुमेरु तुल्यः गुरुतरः क्लेशोभवेततथापिअतिबलीयान्प्रेम उक्तान परिमेयान् क्लेशसमूहान् विजित्य तेनैव स्वयं पुष्टिमाप्नोतीतिभावः । श्लोकार्थश्च अनुरूप एव, तथाहि लोकद्वयात इहलोकात् जीवित कालात् परलोकाच्च मरणोत्तरकालात स्वोपार्जित कर्मफलात् स्वजनतः आत्मीयात् परतः अनात्मीयजनात् स्वतः शरीरादेः वा अथवा प्राण प्रियात् प्राण प्रेष्ठात् कान्तात् अपियदिसम्भावनायाम् सुमेरु समाः अगणिताः क्लेशाः प्रतिकूलावस्थासमूहाः स्युः भवेयुः तत् अपि अतिबली अनमोद्र्ध्वबलशाली प्रेमा तान् क्लेशसमूहान् सहसा अकस्मात् लीलयैव विजित्य इभान् करीन् विजित्य हरिः सिंहः इव पुष्टिम् एति तृप्ति माप्नोति ॥५४॥

होकर स्वाभाविक चेष्टा समूह द्वारा प्रेम को दिखादेता है ॥५३॥

जैसे सिंह हस्ति गण को पराजित करके उन सब के द्वारा ही अपनी पुष्टि करता है उस प्रकार इस लोक, परलोक, स्वजन शत्रुवर्ग

स्निग्धाङ्गकान्ति रथ गर्वधरोऽत्यभीतो
विश्रम्भवान् स्वपिति किं गणयेदसौ तान् ।
कण्ठीरवः शुन इवाभिभवन् सराग
स्तेष्वेव राजतितमां तमसीव दीपः ॥५५॥
लाम्पटयतो नवनवं विषयं प्रकुर्व
न्नास्वादयन्नतिमदोद्धुरतां दधानः ।

अनुरूप दृष्टान्तेन तटस्थलक्षणेन प्रेमस्वरूपंदर्शयति । स्निग्धाङ्गेति स्निग्धाङ्गकान्तिः चाकचिक्यमयी मसृणदेहकान्ति र्यस्य सः स्निग्धाङ्ग कान्तिः अथ अनन्तरं गर्वधरः प्रतापी स्वीयसामर्थ्य विषयकज्ञानवान् अतएव अत्यभीतः सर्वथा भयशून्यः विश्रम्भवान् विश्वस्तः प्राणव्यये नापि विश्वासं रक्षयति एतादृशः असौ सिंहः तथा प्रेमा उभौ समान धर्माणौ, शुनः कुक्कुरान् अभिभवन् अगणयन् स्वपिति सुखंनिद्रां याति अति तुच्छत्वात् तान् कुकुरान् किं गणयेत् कण्ठीरवः सिंहः ? विश्वास रागभूमिकायामेव प्रेमा निरन्तरं तिष्ठति, अतः सरागः स्वेष्टानुकुल्य विषय क तृष्णा युक्तः सः प्रेमा तमसि सूचीभेद्यान्धकारइव सर्वाङ्गीन प्रति कूलावस्थायां अन्धकारे दीपः प्रचुर प्रकाशः दीपः इव तेषु क्लेशेषु एव राजतितमां अन्धकारे यथा दीपस्य प्रकाशः अतिशयेन जायते तथैव प्रेम्नः अतिशयेन प्रकाशे दुःखदे काले भवति ॥५५॥

सहेतुकं प्रेम्नः समुत्कर्षं वर्णयति लाम्पट्यत इति । लाम्पट्यतः

निजदेह, देह सम्बन्धीय समस्त विषय से अथवा प्राणप्रेष्ठ से भी यदि सुमेरुतुल्य गुरुतर क्लेश उत्पन्न होता है,तथापि अतिशय बलवान् प्रेम, अपरिमित क्लेश समूह को भी पराजित करके उन्हीं से स्वयं ही पुष्टि को प्राप्त करता है ॥५५॥

हे सखि ! लाम्पटयहेतु यह प्रेम प्रियतम को क्षण क्षण में नूतन

आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकीं
सन्तापयन् प्रलयसूर्य्य इवावभाति ॥५६
एनं विभर्त्ति सखि कः खलुगोपराज
सूनुं विना त्रिभुवने तदुपर्य्यधोऽपि ।
प्रेमाणमेन मलमेणदृशीन्वविन्द
न्नत्रैव गोष्ठभुवि कश्चन तारतम्यात् ॥५७॥

कामुकतातः विषयं कृष्णं तस्य प्रत्येकमाचरणञ्च नवं नवं नूतनं नूतनं प्रतिक्षणं प्रकुर्व्वन् आस्वादयन् एवं अति मदोद्धुरतां अतिशय मदाधिक्यं दधानः आह्लादयन् उल्ला यन् अमृतरश्मिः चन्द्रइव त्रिलोकीं लोक त्रयस्य जीवसमूहं, अथचसन्तापयन् अतिशयेनतापं वितरन् प्रलयसूर्य्यः प्रलय कालीन सृष्टि विनाशक सूर्य्यइव अवभाति ॥५६॥

सपरिकरं प्रेम्नः स्वरूपं वर्णयन् स्व प्रिय कान्तस्योत्कर्षं वर्ण यति एवमिति । हे सखि ! प्रियसखि ! गोपराजसूनुं गोपेन्द्रनन्दनं नन्दनन्दनं विना विहाय त्रिभुवने लोकत्रये तदुपर्य्यधोऽपि तस्य त्रिभुवनस्य उपरि महः,जन,तपः सत्यलोके,अधः रसातलादौ च अपि कः खलु एनं प्रेमाणं विभर्त्ति धारयति । अत्र एव गोष्ठभुवि व्रजे काश्चन एणदृशः हरिणनयनाः भावस्य तारतम्यात् एनं प्रेमाणम् अलम् अति शयेन अन्वविन्दम् आस्वादितवत्यः ॥५७॥

नूतन बना देता है एवं अतिशय मादकता का सृजन करता है, और त्रिलोकी चन्द्रके समान आह्लादित एवं प्रलय कालीन सूर्य की भांति सन्तापित कर दीप्तिमान होता है ॥५६॥

हे प्रिय सखि ! गोपेन्द्रनन्दनके विना यह प्रेम और कहाँ है ? क्या त्रिभुवन में ? क्या त्रिभुवन के ऊद्‌र्ध्व में ? किम्वा पाताल में ? यह प्रेम कहीं नहीं है, इस व्रजभूमि में कतिपय मृगनयनाभाव के तारतम्यानुसार

प्रेमाहि काम इवभाति वहिः कदाचि
त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत् ।
प्रेमेव कुत्रचिदवेक्ष्यत एव कामः
कृष्णस्तु तत् परिचिनोति बलात्कलावान् ।।५८।।
कृष्णान्तिकं सखि नयाशु निकामतप्तां
मामित्युदाहरति किन्तुतदात्मजेन ।

कामेन समं प्रेम्नः स्वरूपतः पार्थक्यं प्रकटयन् तस्य स्वरूपमाह प्रेमेति । कदाचित् अति विरले स्थले प्रेमा अन्य ममता रहिता असमाद्ध्र्वममता, अपि काम इव स्वसुखाभिलाष इव वहिः आचरणे भाति प्रतिभाति । प्रियतमः प्राणप्रेष्ठः श्रीकृष्णः तेनैव कामेन स्वाभिलाष विशेषेण अमित अपरिमितं सुखं एव विन्देत् प्राप्नुयात् अपरञ्च कुत्र चित् जने कामः स्वाभिलाषविक्षेषं एव प्रेमा इव अहेतुकं निविड़ ममता इव अवेक्ष्यते दृश्यते, कलावान् विज्ञशिरोमणिः कृष्णः तु बलात् स्व सामर्थ्येनैव परिचिनोति जानाति । तत्र श्रीकृष्णः सुखी न भवेदिति भावः ।।५८।।

प्रेम्नः स्वरूपं पुनरपि विशदयति कृष्णान्तिकमिति । यदा काचित् प्रेयसी वदति सखि ! निकामतप्तां समधिक विरहक्लिष्टां मां

सार उस प्रेमका आस्वादन कर रही हैं ।।५७।।

कदाचित् प्रेम भी काम के समान वाहर दिखाई पड़ता है उस से प्रियतम अपरिमेय सुख प्राप्त करते हैं । किन्तु कदाचित् किसी व्यक्ति विशेष में काम भी प्रेम के समान दिखाई पड़ता है । विदग्ध शिरोमणि कलावान् कृष्ण उस को समझ जाते हैं किन्तु उस से सुखी नहीं होते हैं ।।५८।।

और भी प्रेयसी जब कहती है कि सखि ! मैं अतिशय विरह

कामेन तत् सुखपरं दधती स्वभावा
देव स्वचित्तमयमत्र न कामिनीस्यात् ।।५६।।
प्रेमाम्बुधि र्गुणमयी खनिरस्य शाठ्य
चापल्यजैह्म्यमखिलं रमणीयमेव ।
प्रेमानमेव किल काममिवाङ्गनासु
सन्दर्शयन् स्वमुदकर्षयदेव यस्ताः ।।६०।।

कृष्णान्तिकं नय कृष्ण समीपं प्रापय इति उदाहरति वदति तदा तस्मिन् कथने किन्तु आत्मजेन कामेन स्वभावादेव प्रेम्णो विषयाश्रययोः एकात्मतया तथा प्रिय विरहे प्रियायाः कष्टं भवति तथैव प्रियायाः अदर्शने प्रियस्यापि दुःखं भवेत् तदेवानुभूय प्रिया स्वात्मानमभि सारयितुं स्वसखीं वदति न तु स्व कामापनोदनाय। स्वाभाविकतया तत् सुख परं स्वप्रेष्ठतमसुखपरं स्व चित्तं दधती, अत्र अस्मिन् विषये सा ललना कामिनी न स्यात् न भवेत् ।।५६।।

प्रेष्ठतमस्य श्रीकृष्णस्य निर्दोषतां दर्शयति प्रेमाम्बुधिरिति। यः रसिकशेखरः श्रीकृष्णः प्रेमाम्बुधिः प्रेम्णोऽपार समुद्रः गुणमयीखनिः गुणरत्नाकरः! अस्य श्रीकृष्णस्य शाठ्यं चापल्यं जैह्म्यं शाठ्यं कपटता चापल्यं चञ्चलता जैह्म्यं असरलता एतेषां दोषाणां समाहारः अखिलं सम्पूर्णं रमणीयम् मनोहरमेव। सः श्रीकृष्णः स्वं निज प्रेमाणम् एव कामम् इव सन्दर्शयन् ताः अङ्गनाः उदकर्षयत् एव ।।६०।।

पीड़िता हूँ मुझे शीघ्र प्राणनाथ के समीप मे ले चलो। तब उसको कामिनी नहीं कही जाती। कारण उस समय भी उसका चित्त प्रियसुख निष्ठ है। प्रिय सुख के लिए जो काम उत्पन्न होता है उस काम को काम कहा नहीं जाता है, उसको प्रेम कहा जाता हैं।

व्रजेन्द्र नन्दन प्रेम समुद्र है, गुण रत्नों के खान है, एवं अत्यन्त

का वाङ्गनाः शतसहस्रममुष्यकामः
पर्य्याप्तये मदकलाः प्रभवन्तु यत्ताः ।
प्रेमातदत्र रमणीष्वनुपाधिरेव
प्रेमैक वश्यतमता च मयान्वभावि ॥६१॥
तत्रापि मय्यतितरामनुरज्यतीति
लोकप्रतीतिरपि न ह्यनृता कदापि ।

यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्नशेकुः । इतिन्यायमवलम्ब्य श्रीकृष्ण स्योत्कर्षं प्रकटयति । का इति । शत सहस्रम् अनन्तम् कावा अङ्गनाः ललनाः मदकलाः यौवनमदोन्मत्ता यत्ताः हाव भावादिभिः कान्तं वशीकर्त्तुं चेष्टाशीलाः प्रयत्नशीलाः च सत्यः समुष्य कान्तस्य श्रीकृष्णस्य कामपर्य्याप्तये कामनिर्वापणाय प्रभवन्तु समर्थाः भवेयुः । तत् तस्मात् कारणात् रमणीषु ललनासु अनुपाधिः अहेतुकः एव प्रेमा अनन्यममता अत्र श्रीकृष्णे प्रेमैकवश्यतमता च मया अन्वभावि अनुभूता ॥६१॥

श्रीभानुतनयायां श्रीकृष्णः सर्वथैव अनुरक्तोऽस्ति इति वार्त्तां समादधाति तत्रापीति । तत्रापि तन्मध्ये सः श्रीकृष्णः मयि भानुनन्दिन्यां

रमणीय होकर भी अङ्गनागण को उत्कृष्ट करने के लिए शाठ्य, चापल्य, कौटिल्य इत्यादि द्वारा निज प्रेम को काम की भाँति दिखाते हैं ॥६०॥

कौन शत सहस्र अङ्गना यौवन मद से मत्त एवं यत्नवता होकर भी श्रीकृष्णके काम निर्वापन में समर्था होगी ? कोई भी नहीं । अतएव अङ्गना गण के प्रति अकैतव प्रेम एवं श्रीकृष्ण मैं उक्त प्रेम वश्यता, मैं उसका अनुभव विशेष रूपसे करचूकी हूँ ॥६१॥

तन्मध्य में श्रीकृष्ण मेरे प्रति अतिशय अनुरक्त है लोक प्रसिद्धि

यत् प्रेम मेरुमिव मे मनुते परासां
नो सर्षपै स्त्रिचतुरैरपि तुल्यमेषः ॥६२॥
प्रेमानुरूपमयि रज्यतियत् परासु
रागानुरूपमिह दीव्यति नापराध्येत् ।
दैवात् व्यतिक्रममुपैति कदाचिदस्मात्
नासौ सुखी भवति तेन च मां दुनोति ॥६३॥

अतितरां अत्यन्त रूपेणअनुरज्यति अनुरक्तः भवति इति लोक प्रतीतिः लोकस्य अनुभवः नहि कदाचिदपि अनृता मिथ्या भवेत् यत् यस्मात् कारणात् एषः श्रीकृष्णः मे मम प्रेम मेरुमिव सुमेरुपर्वत मिव मनुते मानयति, परासां रमणीनां प्रेम तु त्रिचतुरैः सर्षपैः अपि तुल्यं समम् नो न मनुते ॥६२॥

अपरं समादधादि प्रेमानुरूपमिति अयि हे प्रियसखि ! यत् यस्मात् कारणात् स्वनिर्बन्धात् श्रीकृष्णः इह परासु रमणीषु प्रेमानु रूपं यस्याः यादृक् प्रेमा तस्य प्रेम्नोऽनुरूपमेव रज्यति तत्र अनुरक्तो भवेत् रागानुरूपं प्रेममयीतृष्णानुरूपं दीव्यति तत्र क्रीड़ति च तस्मात् कारणात् सः कृष्णः नापराध्येत् वैषम्यदोषेण दुष्टो न भवेत् दैवात् अनिर्वचनीय कारणात् कदाचित् अस्मात् उक्त नियमात् व्यति क्रमम् उपैति प्राप्नोति चेत् यदि तर्हि तदा असौ श्रीकृष्णः स्वयमेव सुखी नभवति, तेन दुःखेन कारणेन च मां दुनोति दुःखी करोति ॥६३

भी ऐसी है, वह कदापि मिथ्या नहीं हैं। कारण वे मेरे प्रेम को सुमेरु के समान मानते हैं, एवं अपर अङ्गना के प्रेम को राई की भाँति भी नहीं दिखते हैं ॥६२॥

अपर अङ्गनागण जो जैसी अनुरागिणी है, प्रियतम कृष्ण उनसबके प्रति अनुरूप अनुरागी है एवं तदनुरूप ही क्रीड़ा करते रहते

सङ्केतगामपि विधाय मदेकतानो
मां नाजगाम यदिहाभवदन्तरायः ।
रुद्धः कयाचिदनुरोधवशात् स रेमे
मद्दुःखचिन्तनदवाद्दित एवरात्रिम् ॥६४॥
तेनैव मे हृदि महादवथुर्बभूव
मद्वेशभूषणविलासपरिच्छदादि ।

प्राक्तन प्रश्नस्योत्तरमाह सङ्केतगामिति । मां राधां सङ्केतगां संकेतस्थलाय अभिसारवतीं विधायकृत्वा अपि श्रीकृष्णः यन्न न आजगाम, न आगतवान् इह अस्मिन् आगमन विषये अन्तरायः प्रतिबन्धः एव कारणं अभवत् अभून् वञ्चकता तस्य कारणता न भवेत् । मदेकतानः मय्येकाग्रमनाः सः श्रीकृष्णः कदाचित् कामिन्या रुद्धः अवरुद्धः सन् तस्या अनुरोधवशात् अनुनयवशात् मद्दुःख चित्तन व्याकुलः मम यत् दुखं कान्तविरह जनितः क्लेशः तस्य चिन्तनम् राधामभिसारयित्वापि अहं तत्र न गतवान् एतावता राधा मद्विरुद्धाचरणेन कीदृशी दुःखिता अभूत् इति चिन्तया व्याकुलः सन् क्लेशस्य चिन्तनम् एव दवः दावानलः तेन आकुलः एव रात्रि रेमे ॥६४॥

है । इसमें उनका कोई दोष नहीं होता हैं । किन्तु दैवात् कदाचित् रागानुरूप क्रीड़ा का यदि व्यतिक्रम भी होता है तो उस से प्रियतम सुखी नहीं होते हैं, इस लिए मैं अत्यन्त दुःखी होती हूँ ॥६३॥

मुझे सङ्केत गामिनी करके भी कृष्ण नहीं आते हैं, उसका विघ्नही कारण है, क्यों कि मेरे प्रति एकाग्र चित्त होने पर भी अन्य किसी रमणी के द्वाराअनुरोध वश रुद्ध होकर उसके साथ रमण करते हैं, किन्तु उससे सुखी नहीं होते हैं, कारण रात्रि भर मेरी दुःखचिन्ता रूप दावाग्नि से आकुल होते रहते हैं ॥६४॥

तन्मोदकृत् विफलतामगमत् किमद्ये
त्याक्रन्दितं यदपि तर्हि तदन्वभूस्त्वम् ॥६५॥
प्रातस्तमत्यनुनयन्तमतर्ज्जयं भो
स्तत्रैव गच्छ सुखमाप्नुहि तत् पुनश्च ।

कान्तस्य विरहे यत् क्रन्दनमासीत् तस्य कारणमुद्घाटयति तेनेति । श्रीकृष्णः मद् दुःखमनुभूय दुःखी अभूत् तेनेव कारणात् मे मम राधायाः हृदि चित्ते महादवथुः अतिशयः तापः बभूव, तर्हि तन्मोदकृत् तस्य श्रीकृष्णस्य मोदकृत आनन्ददायकं मद्वेष भूषण विलास परिच्छदादि मम वेष भूषणादि अद्य किं विफलताम् अगमत श्रीकृष्ण सुखार्थं न अलगत् इति मत्वा यदपि आक्रन्दितं सह्यकृतया रोदनं कृतं, तत् रोदनं त्वम् स्वदुःखरूपं अन्वभूः अनुभूतवती ॥६५॥

स्वापराधिनः कृष्णस्य प्रभातसमये यत् तर्ज्जनादि अनादरः अभूत् तस्य कारणं वर्णयति । प्रातरिति । रात्रिमन्यत्र यापयित्वा उषसि मत् सविधं आगत्य मां अत्यनुनयन्तं अतिशयेन नम्रतया अनुनयन्तं अनुनयं कुर्वन्तं तम् कृष्णं इदमेव उक्त्वा अतर्ज्जयं "भोः ! कृष्ण ! तत्रैव गच्छ यस्याः ललनायाः सविधे रात्रिनिवासं कृतवान् तस्याः एव समीपं गच्छ याहि, तत् सुखं आप्नुहि इति" स रोषः तत्-

---

सखि अपर अङ्गना के साथ बिलास में प्रियतम मेरी चिन्ता कर जो दुःखी होते हैं, उसके लिए ही मेरा अतिशय मनस्ताप उत्पन्न होता है । उस समय मैं मेरा वेश-भूषण- विलास--परिच्छदादि विफल हुआ उनके मुख के लिए नहीं हुआ" ऐसा कह कर रोदन किया था, तुमने उसका ही अनुभव किया है ॥६५॥

प्रभात में जब श्रीकृष्ण मेरे निकट आकर अतिशय अनुनय करते थे तब मैं जो क्रोध के साथ इस प्रकार कहकर जो तर्ज्जन किया कि "तुम वहाँपर ही जाओ ! पुनर्वार उसी रमणी का सङ्ग सुखका

रोषः स तत्सुखपरः प्रियतोऽस्थ इवेति
स्वालोचय व्रजभुवोऽप्यनुरागचर्य्याम् ।।६८।।
अद्योतयं मुहुरहं निजकाममेव
किं मां विहाय रमयस्यपरां शठेति ।
वाचा स चापि रतिचिह्न जुषा स्वमूर्त्या
व्यज्यैव काममथ मन्तुमुरीचकार ।।६७।।
प्रेमा द्वयोरसिकयोरयि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चल एव भाति ।

सुखपरः कृष्णस्यसुखपरः एव प्रियतोत्थ ममतोत्थः एव इति एवं प्रकारेण व्रजभुव अनुरागचर्य्यां व्रजानुरागरीति अपि आलोचय ।।६८।।

अपरञ्च दुर्बोध्यं व्यवहार समादधाति अद्योतयमिति । मया यदुक्तं हे शठ । कपट कृष्ण ! मां राधां विहाय किम् अपरां रमणीं रमयसि ? इति वाचा वाण्याअहं निज कामम् निजसुखेच्छां एव मुहुः पुनः पुनः अद्योतयम् प्रकाशितवती । इति तु मदीया वार्त्ता कान्तस्य कृष्णस्य वार्त्ता अपि इतः विलक्षणा आसीत् सः नायकः अपि च, रतिचिह्नजुषा अपरललनारमणचिह्नधारिण्या स्वमूर्त्या कामं व्यज्यएवं स्वसुखं प्रकटय्य मन्तु स्वापराधं उरीचकार स्वीकृतवान् ७६।

अनुभव करो !" वह भी श्रीकृष्ण सुख के निमित्त ही था । अतएव प्रेम जनित ही था । इससे तुम व्रज भूमि के अनुराग को पहिचानो ।।६८

"हे शठ ! मुझे छोड़कर अपर रमणी के साथ विलास तुमने क्यों किया ?" मैं इस वाक्य द्वारा मुहुर्मुहु निज काम को ही प्रकाश किया । कृष्ण भी रति चिह्नाङ्कित निज मूर्त्ति द्वारा काम को व्यक्त कर अपनी गलती को स्वीकार किया ।।६९।।

द्वाराद्दयं वदनतस्तु वहिष्कृतश्चेत्।
निर्वाति शीघ्र मथवा लघुतामुपैति ॥६८॥

अन्तः स्थितस्य खलु तस्य रुचिच्छटाक्षि
वातायनादधरगण्डललाटवक्षः।
चारु प्रदीप्य तदभिज्ञजनंस्वभासो
विज्ञापयेदपि विलक्षणतामुपेताः ॥६९॥

प्रेम विषयक व्यवहारस्य शङ्कामपनोदयन् तस्य स्वरूपं वदति

प्रेमेति अयि, हे प्रियसखि ! प्रेमा अन्तःस्था रसिकयोः ममता दीपः प्रदीपः एव भवति, हृद् वेश्म हृदयगृहं आलोकयति भासयति, निश्चलं एव भाति च वदनतः गृहपक्षे द्वारात् तु अयं प्रेमा वहिष्कृतः चेत् प्रकाशयंतीतः तदा, शीघ्रं तत्कालमेव निर्वाति निर्वाणतां याति, अथवा लघुतां उपैति ॥६८॥

प्रेमा स्वयं प्रकाशोऽस्ति तस्य प्रकाशनेन लघुतां याति अथवा निर्वाणतां प्राप्नोति अतस्तस्य स्वतः प्रकाश रूपतां विशदयति, अन्तरिति। रसिकयोर्द्वयो र्हृद्गतां ममता एव प्रेमा, अन्त स्थितस्य अन्तर्वर्त्तिनः खलु तस्य प्रेम्णः रुचिच्छटा कान्तेः प्रकाशः अक्षिवातायनात् नयनरूपात् वातायनात् निर्गत्य वहिर्देशे प्रकाशतामवाप्य अधर गण्ड ललाट वक्षः चारु मनोहरं यथास्यात तथा प्रदीप्य प्रकाशीकृत्य

इसलिए मैं कहती हूँ, सखि ! प्रेमरूप प्रदीप जबतक मुख द्वार से वाहर नहीं होता है तबतक वह दोनों रसिकों के हृदय रूप गृहको स्थिर भाव से आलोकित करता रहता है। किन्तु वाहर होते ही सत्वर निर्वापित किम्वा लघुता को प्राप्त करता है ॥६८॥

हृदय गृह मध्यवर्त्ती यह प्रेम प्रदीप की कान्ति च्छटा नेत्ररूप गवाक्ष द्वारा निर्गत होकर अधर, गण्ड, ललाट, वक्षः स्थल को उत्तम रूप से प्रदीप्त कर अभिज्ञ जनको विलक्षण रूप से निज क्रान्ति

कान्तेन किन्तुबहुवल्लभताजुषास्यात्
निष्क्रामितोऽपि स मुहुर्नहि याति शान्तिम् ।
मित्थ्यैकभाषणपटुत्वमयी प्रथास्य
कामं दिशेद् यवनिकेव पिधाय तं द्राक् ॥७०॥
त्वय्येव मे प्रियतमेऽनुपमोऽनुरागः
स्वप्नेऽपि वस्तुमपरा किमु हृद्यपीष्टे ।

तदभिज्ञजनं प्रेमस्वरूपज्ञं जनं विलक्षणताम् किञ्चित् विशेषत्वं उपेता प्राप्ता स्वभासः स्व प्रकाशतां विज्ञापयेत् अपि ॥६९॥

प्रेम्नो विलक्षणस्वभावत्वं दर्शयति । कान्ते नेति । बहुवल्लभता जुषा अनेक ललना ललामेन तेनकान्तेन श्रीकृष्णेन आस्यात् वदनात् भाषया मुहुः पुनः पुनः निष्क्रामितः वहिः प्रकाशितोऽपि सः प्रेमा नहि शान्ति उपरतिं लघुतां निर्वाणतां वा याति प्राप्नोति । मिथ्यैक भाषणपटुत्वमयी व्रजजनत्वात् मित्थावचनपरायणा अस्य श्रीकृष्णस्य प्रथा परिपाटी यवनिका इव तिरस्करिणी इव तं प्रेमाणं पिधाय सम्यक् आवृत्य द्राक् तत्क्षणात् कामं दिशेत् स्वसुखहेतुकं काममिव प्रकाशयेत् ॥७०॥

पुञ्जच्छटा का विज्ञापन करता रहता है। अर्थात् प्रेम को मुख से कहने पर वह लघुता को प्राप्त करता हैं, किन्तु प्रेमीके निकट प्रेम छिप नहीं सकता। चक्षु अधर, गण्ड प्रभृतिके लक्षणद्वारा परिव्यक्त होता है।६९

किन्तु वह बहुरमणीवल्लभ कान्त कृष्ण निज मुखसे उसे प्रेम को वारम्बार वाहर करने पर भी उसका निर्वाण नहीं होता है, कारण एकमात्र मित्थ्या भाषण में पटु कृष्ण की यह रीति जवनिका की भाँति उक्त प्रेम को आच्छादित कर सत्वर काम के समान प्रकट रकती रहती हैं ॥७०॥

इत्थं हरिर्वदति मानवतीः सदान्या
मां खण्डितान्तु रतिचिह्नभृदेव वक्ति ॥७१॥
मद्वक्त्रनेत्र सुषमा सममाधुरीक–
सौन्दर्य्यवर्णनबलद्विजिहीर्ष एव ।

प्रेष्ठतमस्य श्रीकृष्णस्यव्यवहार वैलक्षण्यं दर्शयति त्वयीति । हरिः परममनोहरः श्रीकृष्णः मानवतीः मान परायणा अन्याः अपराः कान्ताः सदा नित्यमेव इत्थं अनेन प्रकारेण वदति कथन प्रकारमाह "अयि प्रियतमे, त्वयि एव मे मम अनुपमः अतुलनीयः अनुरागो वर्त्तते, स्वप्नेऽपि अज्ञातसारेणापि किमु अपराः कान्ता मम हृदि वस्तुं वास कर्त्तुं इष्टे समर्थाभवेत् । मां खण्डितां राधां तु अन्य रति चिह्नभृद् एव अन्यललना सम्भोग चिह्नं धृत्वैव सन् वक्ति कथोपकथनं करोति न लज्जति नापि सङ्कोचयति ॥७१॥

कान्तस्य अनुपम व्यवहार वैलक्षण्यं वदति मदिति । मद्वक्त्र-नेत्र सुषमासममाधुरीक सौन्दर्य्य वर्णन बलद्विजिहीर्षः मम राधायाः वक्त्रस्य मुखमण्डलस्य नेत्रयाः नयनयोः च सुषमा शोभा च असमे अनुपमे माधुरीक सौन्दर्य्यं माधुर्य्यं लावण्ये च मद्वक्त्रनेत्र सुषमा सम माधुरीकसौन्दर्य्याणि तेषां वर्णनेन बलन्ती वर्द्धमाना विजीहिषी

अन्य प्रेयसीगण मानिनी होनेपर श्रीकृष्ण उन सबको श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'अयि प्रियतमे ! तम्हारे में ही मेरा अनुपम अनुराग है, मैं क्या स्वप्न में भी अपर रमणीके साथ रमण हृदयसे भी कर सकता हूँ," और मैं प्रियतम के अङ्ग में रतिचिह्न को देखकर खण्डिता होने पर श्रीकृष्ण उस अवस्था में ही मेरे साथ आलाप करते रहते हैं ॥७१

श्रीकृष्ण उस अवस्था में ही मेरे मुख और नयन की सुषमा एवं निरूपम माधुरी एवं सौन्दर्य्य का वर्णन करके विहार के लिए

प्राणास्त्वमेव हि ममेति वदन् व्यनक्ति
न प्रेम तत् सदपि किन्त्विह काममेव ॥७२॥

सन्तप्यते यदि पुनर्विरहाग्निपुञ्जै-
रुत्कण्ठया चुलुकितः स्वगभीरिमाब्धिः ।
प्रेम व्यनक्ति दयितापि गिरा यथैव
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहेति पद्ये ॥७३॥

विहारेच्छा सङ्गमेच्छा यस्य तथाभूतः सन् एव "त्वम् एव हि मम प्राणाः" इति वदन् अपि तत् प्रेम न व्यनक्ति न प्रकाशयति, किन्तु इह मत्समीपे काममेव स्व सम्भोगेच्छामेव विशेषेण व्यनक्ति प्रकाशयति ॥७२॥

दयितायाः प्रेमरीतिं दर्शयति सन्तप्यते इति अपितु हे सखि ! दयिता व्रजाङ्गना यदि सम्भाव्यस्थले पुनः भृशं विरहाग्निपुञ्जैः प्रियवियोगानलसमूहैः सन्तप्यते तापं प्राप्यते स्वगभीरिमाब्धिः स्वस्य गभीरिमा गाम्भीर्य्यम् एव अब्धिः समुद्रः यदि सम्भाविनायाः उत्कण्ठया आग्रहातिरेकेण चुलुकितः अत्यल्पमात्रं भवति, तदा तस्मिन्नेव समये "यत्तसुजात चरणाम्बुरुहेति पद्ये" श्रीमद्भागवतीय रासप्रकरणस्थ पद्ये यथा येन प्रकारेण गोप्यः शुद्ध प्रेमाणं व्यञ्जितवत्यः तथा तेन प्रकारेणैव गिरा शुद्ध प्रेममय वाक्येन एव प्रेम व्यनक्ति प्रकटयति ॥७३

बलवती इच्छा के वशीभूत होकर काम को ही प्रकाश करते हैं। किन्तु "तुम ही मेरा प्राण हो" इत्यादि वाक्य पूर्वक प्रेम का प्रकाश नहीं करता है ॥७२॥

किन्तु सखि ! दयिता यदि विरहाग्नि पुञ्ज द्वारा सन्तापित है, एवं उनका गाम्भीर्य समुद्र यदि उत्कण्ठा से चुलुकित होता है, तब भी जैसे सुजात 'चरणाम्बुरुहं' इत्यादि पद्य में गोप रमणीं के

तस्मिन् महाविरसतालितमस्यपारे
न प्राण वायुरपि सञ्चरितुं शशाक-
प्रेमप्रदीपवर एत्यतिदीप्तिमेव
स्नेहो नु यत् प्रचुरतां चिरमा चकाय ॥७४॥

रासेऽमयैव विजहार विहाय सर्वा
स्तत्रापि मां यदमुचन् शृणु तस्य तत्त्वम् ।

प्रेम्नः अद्भुत स्वभाव मुपवर्णयति तस्मिन्निति । तस्मिन् सुप्रसिद्ध प्रेमसम्बन्धे अपार कूलविहीने, महाविरसतालि तमसि अतिशय प्रति कूलतामय अतिनिविडान्धकारे प्रकाशसम्भावतावर्जिते प्राण वायुः जीवन वायुः अपि अन्यस्य का वार्त्ता सञ्चरितं गन्तुं न शशाक न समर्थोऽस्ति, किन्तु प्रेम प्रदीपवरः तस्मिन् समये उत्तमः प्रचर प्रकाश-शीलः प्रदीप इव प्रेमा सर्वथा अतिशयेन प्रकाशशीलोभवेत् अति दीप्तिम् एव एति प्राप्नोति । यत् यस्मात् कारणात् स्नेहः तैल हृदयार्द्रता च नु चिरं व्याप्य प्रचुरताम् आचकाय दधार ॥७४॥

रासे सर्वा विहाय राधया समम् विजहार तस्य निगूढ रहस्यमुद्घाटयति रासे इति । रासे बहुभि गोपीभि मिलित्वा नृत्यावसरे सर्वाः गोपाङ्गनाः विहाय त्यक्त्वा मया राधया सह एव विजहार, इति प्रसिद्धा वार्त्ता, तत्रापि तस्मिन्नपि समये यत् माम् राधा अमुचत् त्यक्त-

वाक्य द्वारा प्रेम प्रकट हुआ है, उस रीति से ही वाक्य द्वारा प्रेम का प्रकाश करने लगते हैं ।७३।

उस महाविरह वैवश्य रूप अतिशय अपार अन्धकार में प्राण वायु-सञ्चरण करने में असमर्थ होने पर भी प्रेम-प्रदीप अत्यन्त दीप्ति प्राप्त करता है, कारण प्रचुर स्नेहरूप तैल उसमें मिलित है, अर्थात् अत्यन्त विरह विवशता के कारण प्रेम व्यक्त होने पर भी लघुता

प्रेमाम्बुधे र्व्रजपुरन्दरनन्दनस्य
मामेव मन्तुरधिकां न कदापि मन्तुः ॥७५॥
अध्यास्य मामतुलसौभगदिव्यरत्न
सिंहासनं बहुविलासभरै र्विभूष्य ।

वान् तस्य तत्वं यथार्थस्वरूपं शृणु, प्रेमाम्बुधेः प्रेमनिधेः व्रजपुरन्दर नन्दनस्य नन्दनन्दनस्य माम् राधामेव अधिकां मन्तुः मन्यमानस्य कदापि न मन्तुः अपराधः स्यात् अर्थात् सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्ण मामेव अत्यधिकं सम्मानं करोति, अतएव निष्कपटाचरणकारिणस्तस्य मम दुःखाचरणं न सम्भवेदिति भावः ॥७५॥

प्रेम्णोऽनुपम रहस्यमुद्घाटयति अध्यास्येति । श्रीभानुतनयां माम् अतुलसौभगदिव्यरत्न सिंहासनम्, अतुलं अनुपमं सौभगं सौभाग्य रूपं दिव्यं लोकोत्तरं यत् रत्नसिंहासनं तत्र अधिशीङ् स्थासामाधार कर्म इति नियमेन अत्र कर्मत्वं, अध्यास्य आवेशयित्वा, अनुपम सौभाग्यपूर्णं कृत्वा बहुविलासभरैः विविध रमणातिशय्यैः विभूस्य अलङ्कृत्य वनात् वनं गच्छन् नानास्थानं परिभ्रमम् अरीरमत् अतिशयेन रमितवान् । रमणसमये वैशिष्ट्य मिदमेव आसीत् यत् नायं अयं कान्तशिरोमणिः श्रीकृष्णः पुन अन्यां कान्तां अपरां प्रेयसीं

प्राप्त नहीं कर स्नेह वश के कारण स्वयं ही पुष्टि प्राप्त करता है ॥७४।

रास में सकल गोपियों को परित्यागकर पुनर्वार मुझ को भी परित्याग किये थे, उसका कारण सुनो ! व्रजेन्द्र नन्दन प्रेम समुद्र है, सर्वापेक्षा मुझको अधिक मानते हैं, अतएव उससे उनका कभी भी दोष हो नहीं सकता ॥७५॥

कारण वे मुझे अनुपम सौभाग्य रूप दिव्य रत्न सिंहासन में वैठाकर बहुविध विलास रूप भूषण से भूषित कर वन वन में भ्रमण करते करते रमण किए थे, वै अन्य कान्ता को स्मरण पथ में भी नहीं

गच्छन् वनाद्वनमरीरमदेव कान्ता
मन्यां पुनः स्मृति पथेऽपि निनाय नायम् ॥७६॥
किञ्चिन्मयैव मनसैव विचारितं त-
द्र्यैतं महोत्सव सुधाम्बुधिमत्यपारम् ।
नैवान्वभुन्मम सखीतति रावयोः सा
विश्लेषसञ्ज्वरधुताक्वनु किं करोति ॥७७॥

स्मृतिपथे मनसि अपि निनाय न नीतवान् । मया सह रमणेन रमणस्य विभोरतायाः पराकाष्ठासीदितिभावः ॥७६॥

श्रीभानुतनया स्वगत विमर्शान्तरं वर्णयति किञ्चिदिति. तर्हि कान्तस्य विलासतल्लीनतामनुभूय मया एव स्वयमेव नतु अन्य प्रेरणया मनसा एव अन्तः करणेन विचारितम्, एतम्, अत्यपारं पारावार विहीनं महोत्सवसुधाम्बुधि अत्यानन्दामृतसिन्धु मम सखीततिः सखीसमूहः सखाः श्रीराधिकायाः प्रेमवल्याः विशलयदलतुल्याः स्वतुल्याः इति नियमेन विलासानन्दमये तासां विषये भानुनन्दिन्याः स्वरसतोमनोनिवेशः आसीदिति भावः न एव अन्वभूत् नानुभूतवती । प्रत्युत सा प्राणप्रेष्ठा सखीततिः आवयोः श्रीराधाकृष्णयोः विश्लषे सञ्ज्वरधूता वियोगताप संतप्ता सती क्वनु किं करोति । अत्यानन्द-समयेऽपि सहृदये प्रियजनस्यस्मृतिर्भवेत् । अनिष्ट शङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्तीति भावः ॥७७॥

लाते ॥७६॥

तब मैंने मन ही मन विचार किया यह अपार महासुखामृत समुद्र का दर्शन सखीयों का नहीं हुआ, वे सब हमारे विरह ताप से व्यथित होकर कहाँ हैं ? एवं क्या कर रहीं हैं ॥७७॥

यदि हम दोनों क्षण काल यहाँपर ठहरते तो सत्वरही सखीगण

अत्रास्वहे यदि पुनः कतिचित् क्षणास्ता
आल्यो मिलन्ति रभसादभितो भ्रमन्त्यः ।
इत्यभ्यधां प्रियतमाथ न पारयेऽहं
गन्तुं मुहूर्त्तमिह विश्रमणं भजेव ॥७८॥
तन्मे मनोगतमिदं सहसैव साधु
सर्वं विवेद सविदग्धशिरोमणित्वात् ।
चातुर्य्यसम्पदतुलो रसिकाग्रगण्यः
किञ्चित् सपद्यथ हृदैवपराममर्श ॥७९॥

विमर्शान्तरमाह अत्रेति अत्र विलासमहोत्सव स्थले यदि सम्भावनायां पुन. कत्तिचित् कतिपयाः क्षणाः समयाः सास्वहे अभितः सर्वतोभावेन भ्रमन्त्यः अन्वेषयन्त्यः ताः आल्यः सख्यः रभसात्सहसैव त्वरितमेव मिलन्ति अत्र आगच्छन्ति, इति, विचिन्त्य अथ अनन्तरं अहम् श्रीराधा. अभ्यधां कथितवती,कथन प्रकारमाह हे प्रियतम प्राण प्रेष्ठ ! अहंगन्तुं न पारये गन्तुमहं न शक्नोमि, मुहूर्त्तं व्याप्यं कियत्क्षणं इह अस्मिन् स्थाने विश्रमणं विश्रामं भजेव इति ॥७८॥

न पारयेऽहं गन्तुमिति कथनं श्रुत्वा कान्तस्यमनसि यादृग्य वस्थासीत् तां वर्णयति तन्वे इति । सः प्रसिद्धः श्रीकृष्णः विदग्ध-- शिरोमणित्वात् असीमविज्ञत्वात् मम भानुतनयायाः साधु उत्तमरूपेण मनोगतं हृद्गतं तत् इदं सर्वं सहसा तत्क्षणादेव विवेद ज्ञातवान् । अथ

इधर उधर घूमती हुई यहाँपर आ पहुँचेगी। यह विचार कर मैंने कहा “ हे प्रियतम, मैं और चल नहीं सकती हूँ हम दोनों यहाँपरकुछ देर विश्राम कर लें ॥७८॥

मेरे मन के भाव को वे विदग्ध शिरोमणि सहसा ही समझ गये थे । अनन्तर चतुर,अनुपम, रसिकाग्रगण्य नागर श्रीकृष्ण ने मनही

एतां नयन्नुपवने यदि बंभ्रमीमि
सम्भावितात्यतिरुजा पुरुविद्धचित्ताम् ।
किं स्यात् सुखं यदि दधे स्थितिमत्रगोपाः
सर्वा मिलेयुरपि ताः कुटिलभ्रुवो माम् ॥८०॥
एतां पुनश्चिरमनेकमुपालभेरन्
भङ्गश्च साम्प्रतिककेलिरसस्यभावी ।

अनन्तरं चातुर्य्यसम्पदतुलः चातुर्य्यमेव कौशलमेव सम्पत् तया अतुलः अतुलनीयः रसिकाग्रगण्यः रसिकशेखरः सः श्रीकृष्णः सपदि सद्यः इव हृदा मनसा किञ्चित् परामर्शं विचारितवान् ॥७९॥

श्रीकृष्णस्य विचारमाह एतामिति युग्मकेन । सम्भावितात्यति रुजा सम्भाविता कल्पिता आलीनां सखीनां या अतिरुक् अति क्लेशः तया अतिरुजा कारणेन पुरुविद्धचित्ताम् अतिशय क्लिष्ट हृदयाम् एतां राधां नयन् उपवने यदि सम्भावनायां बंभ्रमीमि भृशं अटामि, तर्हि तदा किं सुखं स्यात् भवेत् न किमपि उल्लासं भवेत् । यदि अत्र अस्मिन्नेव स्थाने स्थितिं दधे अवस्थानं करोमि, तर्हि तदा ताः सख्यः अपि कुटिलभ्रुवः रोषकषायितनेत्राः सत्य मां मिलेयुः मिलिताः भवेयुः एनां मत्सहचरितां राधां भानुतनयांपुनः चिरं बहुकालं अनेकम् उपालभेरन् तिरस्कारं कुर्वन्ति च, सम्प्रतिक केलिरसस्य प्रारम्भ-लीलास्वादनस्य भङ्गः विघटनं च भावी भविष्यति क्रुधा क्रोधेन तासु

मन इस प्रकार विचार किया ॥७९॥

यदि राधिका को साथ लेकर मैं इस उपवन में भ्रमण करूँ, तो अब कुछ भी सुख नहीं होगा, क्योंकि यह राधा सखीयों की मनः पीड़ा की सम्भावनाकर चित्तं में अतिशय दुःख अनुभव कर रही है, और यदि यहाँपर ठहरूँ तो सब गोपीगण मिलकर हर्ष से मेरे प्रति

सम्पत्स्यतेऽद्य नहि रासविनोदनृत्यं
तासु क्रुधा निज निजं सदनं गतासु ॥८१॥
यत् प्रार्थितं स्वकुतुकेन पुरानयैव
शक्नोषि किंनु कुलजार्बुदलक्ष कोटीः।
आलिङ्गितुं प्रियतम क्षणमेकमन्वि
त्यास्ते दिदृक्षित मिदं मम पूरयेति ॥८२॥

सखीषु निज निजं स्वस्व सदनं आलयं गतासु सतीषु अद्य अस्मिन्नेव समये राम विनोद नृत्य नहि सम्पत्स्यते न भविता ॥८०॥८१॥

कान्तस्य विचारान्तरमाह यदिति श्लोकद्वयेन। यदिति युग्म कम्। यत् यस्मात् कारणात् पुरा प्राक्तन समये अनया भानुनन्दिन्या एव स्वकुतुकेन आत्मन कौतुहलवशात् प्रार्थितं प्रार्थना प्रकारामाह हे प्रियतम कृष्ण ! कि नु एकं क्षणम् युगपदेव अनुकूल जार्बूदलक्षकोटीः अपरिमिताः व्रजकुलाङ्गनाः आलिङ्गितुं बाहुद्वयेन अवरोद्धु शक्नोषि ? इति मम दिदृक्षितं दर्शनेच्छा आस्ते, तत् पूरय इति तस्मात्

कटाक्ष करेंगी, एवं राधिका को तिरस्कार करेगी। ऐसा होने पर आरब्ध केलिरसभङ्ग होगा, विशेषतः क्रोध कर वे सब अपने अपने घर को लोट जाने से आज और रासविनोद नृत्यादि सम्पन्न नहीं हागा ॥८०॥८१॥

हे सखि ! मन ही मन श्रीकृष्ण ने और भी विचार किया था, गोपीङ्गनागण के साथ यदि रास विलास नृत्य सम्पन्न नहीं होता है, तव ये राधिका पहले जो कौतुक वश कही थी "प्रियतम, एकसमय में ही तुम क्या अर्बुद एवं लक्षकोटि कुलवती को आलिङ्गन कर सकते हो, यदि कर सको तो उसे देखने के लिए मेरी इच्छा होती है" मेरे निकट श्रीराधाकी यहप्रार्थनाभी पूर्णनहीं होगी अतएवउस अङ्गनागण

तस्मादिमामपि जहत् पलमात्रमेव
निर्दूषणां विनयिनीं प्रथमं विधाय
मन्तुं स्वमूर्द्ध्न्यखिलमेव दधाम्यृणीस्यां
ताः स्नेहयानि निखिला अपिसर्वथास्याम् ॥८३॥
वैश्लेषिक ज्वरमपार मतुल्यमस्याः
सन्दर्श्य विस्मयमहाब्धिषु मज्जितानाम् ।

इमां राधाम् अपि प्रथमम् पूर्वमेव पलमात्रम् अत्यल्प कालमेव जहत् ज्यजन् सन् विनयिनीं विनीतेति प्रसिद्धां निर्दोषणां दोषशून्यां च विधाय कृत्वा अखिलम् एव मन्तुम् अपराधं स्वमूर्द्ध्नि स्व मस्तके दधामि धारयामि, तेन च गुणी स्याम् अनेन आचरणेन ताः निखिलाः अपि गोप्यः अपि सर्वथा अस्यां राधायां स्नेहयानि आर्द्र हृदयाः करोमि ॥८२॥८३॥

प्रियतमस्य हृदगतभावं वर्णयति वैश्लेषिकेति । सस्याः भानुनन्दिन्याः अपारं सीमारहितं अतुल्यं अनुपमं वैश्लेषिक ज्वरं वियोगसं तापं सन्दर्श्य प्रदर्श्य विस्मयमहाब्धिषु विस्मय सागरे मज्जितायां निमग्नानां तासां गोपीनां स्व प्रेम गर्वम् स्वीय प्रेमोत्कर्षमननात् तासां

को मेरे प्रति सर्वतो भावेन स्नेह युक्त कराने के लिए वक्ष्यमाण उपाय अवलम्वन किया। प्रथमतः ये राधिकाको भी क्षण काल के लिए परित्याग कर इस को विनयिनी एवं निर्दोष कर सब दोष अपने ऊपर लेकर अङ्गनागण को दिखायेंगे कि राधिका का कोई दोष नहीं हैं, सब दोष ही मेरा है, वे सब इस प्रकार मान जायें, इसलिए मैं भी राधा के निकट आभारी रहूँगा ।।८२।।८३।।

श्री राधिका का अपार अनुपम विच्छेद--ज्वर प्रदर्शन पूर्वक उनसब को विस्मय सागर में निजज्जित कर एवं उस सब के निज

स्वप्रेमगर्वमपि निर्धुनवान्यथैना
न्ताभि र्महाधिक तमामनुभावयामि ।।८४।।
सम्भोग एष सकलाधिक एव विप्र
लम्भोऽपि सर्वशत कोटि गुणाधिकोऽस्तु ।
ताभ्यां शुचिः परम पुष्टि मुपैतु चास्या
न्ता ह्रेपयत्वलमिमान्तु गुरूकरोतु ।।८५।।

सर्वोत्कृष्टत्व मननं अपि निर्धुनवान् विदूरी करवाणि, अथ अनन्तरं ताभिः गोपाङ्गनाभिः एनां राधां महाधिकतमां सर्वोत्कृष्टाम् अनुभावयामि प्रत्याययामि ।।८४।।

कान्तस्य हृदयस्य विमर्शान्तिरमाह सम्भोग इति । एषः वार्त्तमानिकः सम्भोगः पारस्परिकमेलनम्,यथा येन प्रकारेण अस्या श्रीभानुनन्दिन्यां सकलाधिकः सर्वाभ्यः अधिक श्रेष्ठः एव तथा तेनैव प्रकारेण विप्रलम्भः वियोगः अपि सर्वशतकोटिगुणाधिकः सर्वाभ्य शतकोटि गुणा धिकः अस्तु भवतु । शुचिः शृङ्गारः उज्ज्वलः: द्वाभ्यां संयोग वियोगाभ्यां परम पुष्टिम् परमनिविड़तां उपैतु प्राप्नोतु, ताः गोपरमण्यः अलम् यथेष्टं ह्रेपयतु लज्जिताः करोतु इमां राधां गुरु करोतु इतः प्राक् श्रीराधां प्रति एतासां उत्कृष्टाबुद्धिनासीत् सम्प्रति अत्याधिक्येन उत्कृष्टां बुद्धि करोतु च ।८५।

प्रेम निमित्त गर्व को दूरीभूत कर के "इस सब की अपेक्षा ये राधा श्रेष्ठ तमा ऐसा अनुभव कराऊँगा ।।८४।।

सम्भोगरस जैसे राधिका में अधिक रूप से सिद्ध होता है वैसे विप्रलम्भ भी उन में ही शत कोटि गुण अधिक है यह भी देखें । मधुर रस सम्भोग एवं विप्रलम्भ द्वारा जो परम पुष्ट होता है; वह देख कर भी वे लज्जान्विता हो जाये एवं राधिका को सर्वोत्कृष्ट रूप में अनुभव

क मी हरि र्भवति नो यदसौ विहाय
प्रेमाधिका अपिरहो रमते तु तस्याम् ।
इत्थं वदन्त्य इह सम्प्रति या रुषास्या
आलीस्तुदन्ति बहु नावपि दूषयन्ति ॥८६॥
त एव कोटिगुणिताविरहे त्वमुष्याः
प्रेमाग्नि बाड़वशिखाः परिचाययामि ।
याभिर्बलादुपगतादवलिह्यमानाः
स्वप्रेमदीपदहनायितमेव विद्युः ॥८७॥

कान्तस्य स्वाभिप्रायं भूयोऽतिवर्णयति कामीति युग्मकेन, हरिः श्रीकृष्णः कामी कामुको भवति, यत् यस्मात् कामिनः असौ कृष्णः प्रेमाधिकाः व्रजाङ्गनाः अपि नः अस्मान् प्रेमवत्यः बिहाय त्यक्त्वा तस्यां राधायां तु रहः निभृते रमते, इत्थं अनेन प्रकारेण वदन्त्यः कथयन्त्यः सम्प्रति याः रुषाः क्रोधेन अस्याः राधायाः आलीः सख्यः ललितादयः तुदन्ति व्यथयन्ति, नौ आवाम् अपि बहुदूषयन्ति, ताभ्यः एव तु विरहे अस्मत् बियोगे अमुष्याः कोटि गुणिताः प्रेमाग्न बाड़व शिखाः प्रेमाग्ने ज्वालाः परिचायया म अनुभावयामि । याभिः प्रेमाग्नि

करें, सखि ये सब कारण से ही वे मुझे रास म छाड़ गये थे ॥८५॥

सखि ! और भी उनका अभिप्रायथा श्रवण करो जो अङ्गना गण, "सम्प्रति कृष्ण कामी हैं, कारण हमसब राधिका की अपेक्षा अधिक प्रेमवती हैं, तथापि हम सबको छोड़कर उस राधिका के साथ रमण कर रहे हैं" यह कहकर क्रोधसे ललितादि सखीगण को दुःखी एवं हमदोनों को दूषित कर रही है, वे सब विरह में अपनी अपेक्षा राधिका की कोटि गुणित प्रेमाग्नि की तीव्र शिखा समूह का परिचय

एवञ्च सेत्स्यति मदीप्सितमैक्यमासां
रासाख्यनाट्यमनु मण्डलतां गतानाम् ।
मध्ये मया सह रुचातुर्विराजमाना
मेनां विलोक्य न भवेदपि काचिदीर्षा ॥८८॥
कष्टं कदापि सुखसम्पदुदर्कमेव
मित्राप मित्रमपि यच्छति तद्धितैषि ।

शिखाभिः उपगतान प्राप्तान बलात् हठात अवलिह्यमाना. व्याप्ताः सत्यः ताः एव गोप्यः एव स्वप्रेम दीप दहनायितम् स्वल्पमात्र ज्वाला-मात्र एव विद्युः ॥८६॥८७॥

कान्तस्य स्वान्त वार्त्तां प्रकटयति एवञ्चेति । एवञ्च पूर्वोक्त रीत्यनुसरणेनआसाम् गोपीनाम्ऐक्यम्एकता मदीप्सितं सेत्स्यति, तथा रासाख्यनाटचम् हल्लीसकं युग्मनृत्यं ताण्डव लास्यं अनु मण्डलतां गतानाम् आसां गोपीनाम् मध्ये मया श्रीकृष्णेन समं सह रुचा विराज मानां एनां राधां विलोक्य तु काचित् अपि ईर्षा उत्कर्षासहनी दृष्टिः न भवेत् ॥८८॥

सोदाहरण कौशलस्य परिणामं वर्णयति कष्टमिति, हितैषि

प्राप्त करें, और विरहिणी राधा के निकटवर्त्तिनी होने पर जब उनकी प्रेमानलशिखा समूह बल पूर्वक उनसबको अवलेहन करेगी तब वे सब अपने प्रेम को क्षुद्र दीपाग्नि के तुल्य मानेंगी ॥८६॥८७॥

उन सबों में एकता स्थापित हो यह मेरी अभिलाष है, इस प्रकार से ही अभिलाष सिद्ध होगी । और रास नृत्य के समयमण्डला कार में रमणीगण की अवस्थिति होगी, उस मण्डली के मध्य में मेरे साथ विराजमाना राधिका को देखकर भी इस के प्रति किसी की ईर्षा नहीं होगी ॥८८॥

तीव्राञ्जनै र्यदपि मूर्च्छयति स्वदृष्टि
मायत्यति द्युतिमतीं कुरुते जनस्ताम् ॥८९॥
इत्यात्तयुक्तिरुरसा सरसं वहन् मां
गत्वा पदानि कतिचिन्मृदुलप्रदेशे ।
अत्रास्यतां क्षणमपीति निधाय तत्र
वास्ते स्म मे नयन गोचरतां जहत् सः ॥९०॥

हिताभिलाषि मित्रं विश्वस्त हृदयं मित्राय सख्ये अपि कदापि समय विशेषे यत् कष्टं यच्छति ददाति। तत् कष्टं सुखसम्पदुदर्कं परिणामे सुख सम्पत् एव फलं भवति। सोदाहरणं वक्तव्यार्थं द्रढ़यति, जनः मानवः तीव्राञ्जनैः प्रथमतः चक्षुषि अञ्जन प्रदानेन पीड़ाभवेत् अनन्तरं स्निग्धतां अतिशयं नेत्र ज्योति रपि वर्द्धते तद्वत्, पोड़ाकरैः अञ्जनैः यदपि स्वदृष्टि मूर्च्छयति आवृणोति, तत् तां दृष्टि स्वदृष्टि आयत्यति द्युतिमतीम् आयत्याम् उत्तर काल अतिशयेन द्युति शालिनीं कुरुते ॥८९॥

कान्तस्य विमर्शानुरूपमाचरणं वर्णयति इत्यात्तयुक्तिरिति। इति आत्त युक्ति पूर्वोक्त प्रकारेण कृतयुक्तिः सः श्री कृष्णः माम् राधां उरसा वक्षसा सरसं सस्नेहं यथास्यात्तथा वहन् कतिचित्पदानि गत्वा अत्र क्षणं अपि आस्यताम् उपवेश्यताम् इति उक्त्वा वदन् मृदुल प्रवेशे स्निग्धस्थाने निधाय स्थापयित्वा मे मम नयन गोचरतां नेत्र गोचरतां जहत् त्यक्त्वा सन् तत्रैव तस्मिन्नैव उपवेशस्थाने एव निलीय आस्ते स्म ॥९०॥

जैसे लोक पहले तीव्र अञ्जन द्वारा निज नेत्र को मूर्च्छित कर अनन्तर उसको अत्यन्त उज्ज्वल करते हैं तद्रूप हितैषी मित्र किसी समय जो कष्ट देते हैं सुख सम्पत्ति ही उसका परिणाम है ॥८९॥

दृष्ट्वाममाति विकलत्वमपास्त धैर्य्यो
दातुं स्वदर्शनमियेष यदा तदैव ।
गोप्यः सखी विततयश्चसमेत्य ता मत्
सन्धुक्षणे समयतन्त नितान्ततप्ताः । ६१॥
यच्चावधीत् पुनररिष्टवकाघवत्सान्
विश्वद्रुहः कपटिनीमपि पूतनां ताम् ।

प्रियतमस्य विदग्धतां वर्णयति दृष्ट्वेति । हे सखि ! मम भानुनन्दिन्याः अतिविकलत्वं दृष्ट्वा प्रियविरहेण अति व्याकुलत्वं निशाम्य अपास्तधैर्य्यः अधैर्य्यः सन् यदा यस्मिन् समये स्वदर्शनंदातुं आत्मानं मम समीपे प्रकटयितुं इयेष इच्छांकृतवान् तदा एव तस्मिन्नेव समये ताः गोप्यः सखीविततयः च समेत्य नितान्ततप्ताः विरह विलष्टाः सत्यः मत् सन्धुक्षणे मदीय तापसंतप्तहृदयस्यानुकूल्य प्रकटने समयतन्तु प्रयत्न वत्यः भवन्तु ॥६१॥

मनोहर प्रियतमस्य निर्द्दोषतां प्रतिपादयति, यच्चेति । यत्त्वया प्रागुक्तं श्रीहरिः विश्वद्रोहीति, तदुत्तरं शृणु । पुनः विश्वद्रुहः विश्वेषां

अयि देवि मेरे प्रियतम इस प्रकार विचार कर अनुराग के साथ मुझे वक्षः स्थल में धारण पूर्वक कोई एक पद जाकर "प्रिये ! क्षण काल यहाँपर ठहरो यह कह कर किसी मृदुल प्रवेश में मुझे रख कर वहाँ पर छिप गये ॥६०॥

सखि ! मेरे प्रियतम उस समय मेरी अत्यन्त व्याकुलता को देखकर अधैर्य्य होकर जब मुझे दर्शन देने के लिए इच्छुक हागये उसी समय अन्यान्य गोपीगण एवं मेरी सखीवृन्द मेरे समीप में आकर नितान्त दुःखिता हो गईं एवं मुझे आश्वस्त करने के लिए यत्नवती हो गईं ॥६१॥

दोषो न चायमपि तूच्चतरैव विष्णु
शक्ति र्हरावजनि साधुजनावनीयम् ॥६२॥
नारायणेन सदृशस्तनयस्तवाय
मित्याह यद्व्रज पुरन्दरमेवगर्गः ।
तत् साक्षिभूतमिह दैत्यबधादि कर्म
लोकोत्तरं समुदगाद् गिरिधारणादि ॥६३॥
किञ्च स्फुरत्ययि यथा ममचेतसोदं
तेनापि नापि कथितं मुनि पुङ्गवेन ।

द्रोह कारिण: अरिष्टवकाधवत्सान् कपटिनीं कपट वेशधारिणीं तां पूतनां च अपि अबधीत् हतवान् नच अयं दोष: भवति अपितु इयं साधु जनावती सज्जनपोषणकारिणी उच्चतरा एव विष्णुशक्तिः अजनि समुद्भूता ॥६२॥

स्वोक्तिसमर्थकेतिहासमाह नारायणेति। यत् गर्गमुनि: व्रज पुरन्दरं श्रीनन्दराजं प्रति आह नारायणेन सदृश: तव अयं पुरोवर्त्ती तनय: इति। इह अस्मिन् प्रसङ्गे दैत्यबधादि गिरिधारणादि यत् लोकोत्तरं कर्म तत् साक्षिभूतं समूदगात्। श्रीगर्गमुने र्वाक्यानुरूपमेवेति भाव: ॥६३॥

और हरिने जो विश्वद्रोही अरिष्ट, वक, अघ, वत्स, एवं कपटिनी पूतना को बध किया, इससे उनका कुछ भी दोष नहीं होता है, कारण सज्जन पालन कारिणी उच्चतरा विष्णुशक्ति श्रीहरि में आविर्भूत होकर असुर संहार करती है ॥६२॥

गर्गमुनि व्रजेन्द्र के निकट कहे थे "तुम्हारे यह पुत्र नारायण के सदृश है। दैत्य बधादि एवं गिरि धारण प्रभृति अलौकिक कर्म सकल उक्त मुनि वाक्य के साक्षी स्वरूप हैं ॥६३॥

नारायणोऽप्यघभिदो नहि साम्यमस्य
रूपैर्गुणैर्मधुरिमादिभिरेतुमीष्टे ।।६४।।
आकर्ण्य कर्णरमणीयतमाः प्रियाया
वाचो हरिः सरभसं पुनरभ्यधत्त ।
प्रेमोक्त एव खलु लक्षित लक्षणोयः
सोऽयं त्वदाश्रयक एव मयाध्यबोधि ।।६५।।

स्व निष्कर्षमुद्घाटयति किञ्चेति, किञ्च भूयोऽपि शृणु अयि देवि ! नारायण समोगुणैः नारायण वैकुण्ठेश्वरः अपि रूपै गुणैः अस्य अघभिदः साम्यं समानत्वं एतुं प्राप्तुं नहि ईष्टे समर्थो न भवेदिति, यद्यपि तेन मुनिपुङ्गवेन मुनिश्रेष्ठ श्रीगर्गेण अपि न कथित तस्य नाम करणावसरे तथापि इदं कथनं यथा यथावत् मम चेतसि स्फुरति ।।६४

श्रीभानुनन्दिन्याः कथनं श्रुत्वा देवीजनोऽप्याह आकर्ण्येति । प्रियायाः भानुनन्दिन्याः कर्ण रमणीयतमा कर्णरसायनाः वाचः आकर्ण्य निशम्य हरिः श्रीकृष्णः प्रच्छन्न देवीजनः सरभसं हठात् स कौतुकं विनोदयुक्तं वा पुनः भूयोऽपि अभ्यधत्त कथितवान् । लक्षितलक्षणः यः प्रेमा त्वया उक्तः एव, सः अतंप्रेमाखलु त्वदाश्रयकः त्वय्येव वर्त्तते इति मया देवीजनेन अध्यबोधि अवगतम् ।।६५।।

प्रेम स्वरूपं श्रीभानुनन्दिन्याः प्रमुखात् श्रवणानन्तरं तस्य

किन्तु देवि ! नारायण, रूप, गुण, माधुर्य्यादि में अघारि के तुल्य नहीं हो सकते हैं,नाम करण के समय मुनिवर यही वात कहे थे, इस वात कीस्फूर्त्ति मेरे मन में होती है ।।६५।।

देवी श्रीराधिका के कर्ण रसायन रमणीय वाक्य सुन कर कौतुक के साथ पुनर्वार कहने लगी भाविनि ! तुमने जो प्रेमकालक्षण किया तुम ही केवल उस प्रेम का आश्रय हो यह मैं जान गई हूँ ।।६५।

दोषा अपिप्रियतमस्य गुणा यतः स्यु
स्तद्दत्तकष्टशतमप्यमृतायते यत् ।
तद्दुःखलेश कणिकापि यतो नसह्या
त्यक्त्वात्मदेहमपि यं न विहातुमीष्टे ॥६६॥
योऽसन्तमप्यनुपमं सहमानमुच्चैः
प्रत्याययत्यनुपदं सहसा प्रियस्य ।

लक्षण सारं वदति दोषा इति द्वयेन, संक्षेपतः प्रेम्नि पश्चानुभावं सुस्पष्ट तया विलसति । यतः प्रियतमस्यः दोषा अपि गुणवत् प्रतीयन्ते, असंख्य दुःखं दत्तेऽपि प्रियतमैः तदपि यस्मात् अमृतायते । यतः प्रियतमस्य स्वल्पमपि दुःखं सोढ़ुं न शक्नोति प्रियजनः स्वात्मानं त्यक्त्वापि यं विहातुं न ईष्टे, यस्मात् महत्वाभावे अपि प्रियतमे अनुपदमेव नूतनं नूतनं महिमानमनुभवति जनः स खलु प्रेमाभवति । यतःप्रेम्नः प्रियतमस्य ममत्वालम्बनस्य दोषाः अपि प्रतीयाः अपि गुणाः निरवद्याः स्युः भवति यत् यतः प्रेम्णः तद्दत्त कष्टशतम् प्रियजन प्रदत्तसहस्रप्रतिकूलाचरण मपि अमृतायते परममुपादेयं प्रतिभाति, यतः प्रेम्नः कारणात् तद्दोष कणिका प्रियतमस्य दोषलेशमपि न सह्या सहनीया न भवेत् । आत्म देहंत्यक्त्वा सर्ववल्लभं निजशरीरं त्यक्त्वापि यं प्रियतमं विहातु परि-

---

प्रिय सखि ! तुम्हारे अमृतमयीवाणी द्वारा प्रेम का जो लक्षण प्रकटित हुआ उसका सारार्थ इस प्रकार है जिस से प्रियतम के दोष में गुण प्रतीति होती है, प्रियतम यदि शत शत दुःख प्रदान करे तो वह भी जिसके निमित्तसे अमृत के समान बोध होता है, जिस से प्रिय तम के अल्पमात्र दुःख भी सहन नहीं किया जा सके, निज देह त्याग कर भी जिसको छोड़ने की शक्ति नहीं होती है, जो प्रियतम की महिमा न होने पर भी अनुपम महिमा का अनुभव पगपग पर कराते रहते

प्रेमा स एव तमिमं दधती त्वमेव
राधे श्रुता खलुमयैव तथैव दृष्टा ॥९७॥
प्रेमीहरि र्नहि भवेदिति सत्यमेव
तच्चेष्टितै रनुमिमे तमिमे वदन्ति ।
प्राणा मम त्वदनुतापदवाग्निदग्धाः
सख्यस्तमात्र निखिला अपि यत् प्रमाणम् ॥९८॥

त्यक्तुं न ईष्टे समर्थो न भवेत, यः प्रेमा प्रियस्य ममतास्पदस्य असन्तम् अपि रिक्तमपि महिमानम् महत्त्वं अनुपमम् तुलना रहितं उच्चैः सर्वोत्कर्षैः सहसा अतर्कितमेव प्रत्याययति बोधयति स एव प्रेमा, मधुरं सम्बोधयति राधे, तम् इमं प्रेमाणं त्वम् एव दधती खलु इति यथैव हैमवती मनायां कैलास शिखरे रम्ये श्री शिव पार्वती सभायां श्रुता, तथैव तेनैव प्रकारेण इह तव सकाशे दृष्टा ॥९६--९७॥

देवीजन स्वाभिप्रायं प्रकटयति प्रेमीति, हरि परममनोहरः श्रीकृष्णः प्रेमी प्रेमवान् नहि भवेत् तस्य हृदये ममत्वाभावात् इति एवम्विध कथनं सत्यम् यथार्थं एव नतु आरोपितम् । यत् यस्मात् कारणात् तच्चेष्टितैः तस्य श्रीकृष्णस्य चेष्टितैः आचरणैः तं हरिं प्रेम-रहितम् ममताशून्यं अनुमिमे, अनुतापः एव दवाग्निः तेन दग्धाः इमे ममप्राणाः च वदन्ति, न केवलं मम प्राणाः एव वदन्ति, अपितु तव

हैं, उसका नाम ही प्रेम । राधे ! तुम यथार्थ ही प्रेमवती हो, यह प्रेम केवल तुम्हारे में ही है, मैंने हैमवती की सभा में जिस प्रकार सुनी थी उसी प्रकार ही देखा ॥९६--९७॥

सखि ! हरि प्रेमी नहीं है, यह सत्य ही जानना उनके सब कार्य से ही मैं यह अनुमान कर रही हूँ, और तुम्हारे अनुताप रूप दावाग्नि से तप्त होकर मेरा प्राण भी ऐसा कहता है; एवं तुम्हारी सखी

यच्च त्वयोक्तमिदमेव मनोगतं मत्
प्रेष्ठस्य तत्तु वयमत्र कथं प्रतीमः ।
नो तन्मुखात् त्वमशृणोर्न च तस्य सख्यु
स्तौ वा जनुष्यभवतां क्वनु सत्यवाचौ ।।९९।।
यर्ह्येव यद् यदयि मत्प्रियचेतसि स्यात्
तर्ह्येव तत्तदखिलं सहसैव वेद्मि ।

निखिलाः सर्वाः अपि सख्यः विश्वासभूमयः अत्र अस्मिन् मदुक्तविषये प्रमाणम् एव, ।।९८।।

श्रीभानुनन्दिन्याः प्रागुक्त वचने सन्देहमुत्थाप्य देवीजनः प्रमाणं पृच्छति यच्चेति, त्वया भानुनन्दिन्या यत् च उक्तं प्राक् कथितं, किं तत् कथनं तदाह "मत् प्रेष्ठस्य मम भानुनन्दिन्याः प्रेष्ठस्य प्राणवल्लभस्य श्रीकृष्णस्य मनोगतम् हार्द्यं इदम् एव नतु अन्यत्, तत् कथनं तु कथम् केन प्रकारेण वयं श्रोतारः प्रीतमः विश्वसिमः । त्वंश्रीराधा, तन्मुखात् स्वोक्त वचनंतस्य श्रीकृष्णस्यमुखात् कथनात् नो न अश्रृणोः श्रुतवती, नच तस्य श्रीकृष्णस्य सख्युः विश्वासपात्रस्य सुबलादेः मुखात् अश्रृणो श्रुतवती, अतः स्व कल्पितमेव त्वत् कथनं प्रतिभाति । तौ श्रीकृष्णतत् सख्यौ वा अत्र अस्मिन् जनुषि जन्मनि क्वनु कुत्रापि सत्यवाचौ सत्य वादिनौ अभवताम् ।।९९।।

वृन्द भी इस विषय में प्रमाण स्वरूप हैं ।।९८।।

और तुमने कहा कि मेरे को रासादि में परित्याग करने का अभिप्राय है । इस प्रकार है, उसको हमसब कैसे विश्वास कर सकते हैं । तुमने उनके मुख से अथवा उनके किसी सखा के मुख से वह सब नहीं सुना, उन सबके मुखसे सुनने से ही क्या होगा, इस जन्मके मध्य में उनसब ने कब सत्य कहा है ।।९९।।

राधे विदुष्यसि किमच्युतयोगशास्त्रं
शक्नोषि येन परकाय मनः प्रवेष्टुम् ॥१००॥
देवीजनोऽस्य विरताच्युतयोगसिद्धि
व्यग्रस्तथा कथमहो वत मनुषी स्याम् ।
यत् पृच्छसोदमयि वक्तुमशेषमीशे
चेद् विस्वसिष्यपरथा तु कथा वृथैव ॥१०१॥
प्रत्यायनेऽस्ति यदि युक्तिरतिप्रभावः

देवीजनस्य वचनं निशम्य श्रीगान्धर्विका कथितवती यर्हीति । हे सखि ! मत्मम प्रियस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य चेतसि अन्तः करणे यदि यस्मिन् एव समये यत् यत् अपि स्यात् उदेति, तर्हि तस्मिन्नेव समये नतु विलम्बेन तत् तत् अखिलं सर्वमेव सहसा तत् क्षणात् अतर्कितमेव अहं वेद्मि, एतद् वचनं श्रुत्वा कथोपकथनरतः देवाङ्गना-वेश विभूषितः श्रीकृष्णः उवाच. हे राधे ! अच्युत योगशास्त्रम् अच्युतेन श्रीकृष्णेन समं योगस्य मिलनस्य उपायनिरूपणं यत्र तत् शास्त्रं किं विदुषी जानासि असि, येन उपायेन परकायमनः परस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य कायं मनः च प्रवेष्टुं शक्नोषि ॥१००॥

देवीजनस्यालापनं श्रुत्वा श्रीराधिका प्रत्युत्तरयति, देवीजन इति ॥ श्रीगान्धर्विका उवाच त्वं स्वर्लोकनिवासी देवीजनः, अतः

तव श्रीराधिका बोली, सखि मेरे प्रियतम के चित्त में जब जैसा भाव उठता है, मैं तत् क्षणात् उन सबभाव को जान जाती हूँ । देवाङ्गना वेषधारी कृष्ण उसके उत्तर में बोले सखि राधे ! तुमने क्या अच्युत योग शास्त्र का अध्ययन किया है ? जिस से दूसरे के शरीर मन में प्रवेश किया जा सकता है ॥१००॥

उत्तर में राधिका बोली, तुम देवी हो, अतएव अच्युत योग

किं वालि ते कथमिदं न वयं प्रतीमः ।
नो चेद् प्रियस्तव गुणार्णव एव किन्तु
प्रेमी भवेदयमिदन्तु मतं तवैव ।।१०२।।
प्रेष्ठः परो भवति तस्य मनो न बुध्य
इत्येव भात्यनुभवाध्वनि हन्त यस्याः ।

अस्मात् कारणात् अविरता च्युतयोग सिद्धिव्यग्रः,अविरतम् निरंतरम् अच्युतस्य श्रीकृष्णस्य परिपूर्णस्य योगस्य संयोगस्य सिद्धौ प्राप्तौ व्यग्रः उत्कण्ठितः असि भवसि । अहो वत साश्चर्य्यं खेदे, मानुषी अहं कथं केन प्रकारेण तया तदनुरूपा स्याम् भवेयम् ।।१०१।।

श्रीभानुनन्दिनीप्रत्युत्तरयति देवीजनः प्रत्यायनेइति । देवाङ्गणा वसन विभूषितः श्रीकृष्णः कथयति, हे आलि ! सखि ! यदि मम प्रत्यायने स्वोक्ति विषये विश्वासोत्पादने युक्तिः सोपपत्तिः स्यात्, किं वा ते तव अनि प्रभावः अतिशय सामर्थ्यम् अस्ति विद्यते, तर्हि तदा कथम् केन प्रकारेण इदं वचनं वयं देवीजनाः न प्रतीमः विश्वसिमः नो चेत्, अथवा तव प्रियः गुणार्णवः गुणसागर एव किन्तु अयं तव प्रियः प्रेमी प्रेमवान् भवेत्, इदं अनेन प्रकारेण कथनं तु तव एव स्वीयमतं ।।१०२।।

प्रत्युत्तरे श्रीराधिका वदति प्रेष्ठः इति । देवीजनस्य कथनोत्तरे श्रीराधिका जगाद, त्वया परिहासविदा परिहास प्रवीणया अद्य

सिद्धि के लिये तुम सदा व्यग्र हो, में मानुषी हूँ सुतरां तुम्हारे तरह कैसे मैं ही सकूँगी । प्रियतम का मनो भाव क्या है, वह कैसे मैं जान सकती हूँ, यदि मेरी बात पर तुम विश्वास करो तो सब मैं कह सकती हूँ, अन्यथा वृथा कथा से कुछ प्रयोजन नहीं है ।।१०१।।

तब देवाङ्गणा वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा, अयि राधे ! यदि

सैवोच्यतां नु परकाय मनः प्रवेश
विद्यावतीति परिहास विदा त्वयाद्य ॥१०३॥
राधे तदा विलपितं किमिति त्वयोच्चै
र्ज्ञात्वा हृदस्य सुखिनी कथमेव नाभुः ।

साम्प्रतम् सा एव परकाय मनः प्रवेश विद्यावती उच्यता भण्यतां, यस्याः ललनायाः परः परमः प्रेष्ठः प्रियतमः भवति, अथच तस्य प्रियस्यमनः अन्तः करणं न बुध्ये, इतिएव अनुभवाध्वनि स्वानुभवपथि भाति ॥

श्रीभानुनन्दिन्याः कथनोत्तरं देवाङ्गना पटावृतः श्रीकृष्णो जगाद, हे वृषभानुनन्दिनि ! राधे ! तदा परित्याग समये त्वया कि मिति कथं उच्चैः अत्युच्चरवैः विलपितम् विलापं कृतं ? अस्य प्रिय तमस्य श्रीकृष्णस्य हृद् अन्तः करणं ज्ञात्वा अनुभूय कथं सुखिनी उल्लसिता नाभूरेव ? एतदुत्तरे श्रीराधिका निगदितवती हे देवि त्वया यदुक्तं तत् सर्वं सत्यं यथार्थं व्रवीषि, अपितु अवधेहि सावधानतया श्रृणु,तददर्शनस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य अदर्शनस्य वा अपि अचिन्त्या

तुम युक्ति द्वारा मुझे विश्वस्त करसको तो क्यों मैं विश्वास नहीं करूँगी, यदि न सकी तो, तुम्हारे प्रिय गुणार्णव तो है, किन्तु प्रेमी नहीं कहा जा सकता है ॥१०२॥

श्री राधिका बोली सखि ! तुम परिहास करनेमें चतुर हो, जो अपर को प्यार करती है, अथच उस का मन नहीं जानती हैं, ऐसा ही जब अनुभव कर रही हो, फिर उसको दूसरे के काय-मन-वाक्य में प्रवेश विद्या में पारदर्शिनी कह कर परिहास कर रही हो ॥१०३॥

देवाङ्गना वेशधारी कृष्णने कहा हे राधे ! तुम कृष्ण के मन को जान कर भी न देख कर दुःखी वन गई, और उच्चैः स्वरसे क्यों रोदन करने लगी ? राधिका बोली तुमने सत्य कहा ! किन्तु सुनो, तव मेराइस प्रकार विवेक न था, कारण उनका अदर्शन की ऐसी एक

सत्यं ब्रवीष्यपि तु देव्यवधेहि कापि
शक्ति र्विवेकभिदभूत्तददर्शनस्य ॥१०४॥
त्वं वेत्सि तन्मन इहास्तु न मे विवादो
गान्धर्विके तव मन स हि वेद नो वा
वेदेति किं भणसि भोः श्रृणु यद्रहस्यं
तत्त्वं त्वया यदभवं तरलीकृतैव ॥१०५॥
राधे जनोऽयमयि यत् तरलीकृतोऽभूत्
प्रेम्ना त्वयैव यदपृच्छमिदं स्वधार्ष्टचम् ।

विवेक हारिणी शक्तिः अभूत् इति कारणात् मया तथा तेन प्रकारेण अनुष्ठितम् ॥१०४॥

प्रत्युत्तरे देवजनोऽवदत् त्वमिति । हे गान्धर्विके, त्वं तन्मनः तस्य श्रीकृष्णस्यमनः अन्तः करणं वेत्सि जानासि, इह अस्मिन् विषये मे मम विवादः मतानैक्यं न अस्तु, सः श्रीकृष्णः तव मनः अन्तः करणम् वेद नो वा वेत्ति न वा ? एतदेव मम जिज्ञास्यं वर्त्तते । उत्तरे श्रीराधिका प्राह सः श्रीकृष्णः मम मनः अन्तः करणं वेद इति किं भणसि गदसि भोः ! यत् रहस्यं गोपनीयं स्यात् वर्त्तते, तत् त्वं शृणु, यत् यस्मात् अहां त्वया तरलीकृत एव अभवम् अतः ब्रवीमि ॥१०५॥

विवेक हारिणी शक्ति हुई थी जिससे मैं रोने लग गई थी ॥१०४॥

देवागङ्गा वेशधारी कृष्णने कहा हे गान्धर्विके, तुम उनके मनको जानती हो इस में मेरा विवाद नहीं है, किन्तु वे तुम्हारे मनको जानते हैं या नहीं ? यह ही जिज्ञास्य हैं ! तब राधिका बोली-वे मेरा मन जानते हैं, यह वात क्यों पुछती हो ? इस में जो कुछ रहस्य है, उसे सुनो ! कहने की वात नहीं है, तथापि तुम्हारे प्रेम से वशीभूत होकर कहती हूँ ॥१०५॥

शुश्रूषते श्रवणमस्य यथा रहस्यं
वक्तुं तथार्हसि न गोपय किञ्चनापि । १०६॥
अन्योन्यचित्त विदुषौ नु परस्परात्म
नित्यस्थितेरिति नृषु प्रथितौ यदावाम् ।
तच्चोपचारिकमहो द्वितयत्वमेव
नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ ॥१०७॥

अमराङ्गना पटावृतः श्रीकृष्ण जगाद राधे इति । अयि राधे ! हे वृषभानुनन्दिनि ! अयं जनः तव सम्मुखवर्त्तिदेवीजनः यत् यस्मात् कारणात् त्वया एव प्रेम्ना तरलीकृत आर्द्रीभूतः अभूत् तत् तस्मात् कारणात् सधाष्ट्र्यम् सङ्कोचं विहाय इहम् अपृच्छम् पृष्टवानस्मि यथा येन प्रकारेण अस्य देवीजनस्य मम श्रवणैः श्रवणेन्द्रियं रहस्यगुह्यं वाक्यं श्रूयते श्रोतुं इच्छति तथा तेनैव प्रकारेण वक्तुं कगदितुं अर्हसि, किञ्चन अपि न गोपय गोपनं मा कुरु इति ॥१०६॥

दवीजनस्य प्रार्थनां निशम्य श्रीगान्धर्विका प्राह अन्योन्येति । परस्परात्मनित्यस्थितेः परस्परात्मनि राधा कृष्णयोरात्मनि नित्यम् अप्रच्युतम्अवस्थानात् आवाम् उभयोः न अन्योन्यचित्तविदुषौ परस्पर चित्तज्ञौ इति यथानृषु मानवेषु मध्ये प्रथितौ ख्यातौ इति अहोआश्चर्य्य मेतत्, तत्चकथन औपचारिकम् गौणमेव आरोपितम् एकस्य आत्मनः

उत्तर में देवाङ्गना वेशधारी कृष्णने कहा राधे ! मैं तुम्हारे प्रेम में विभोर होकर ही धृष्टता के साथ प्रश्न कररहा हूँ । जिसप्रकार रहस्य सुनने की मैं अभिलाषी हूँ, ठिक उस प्रकार कहना ही तुम्हारे उचित हैं, देखो, जैसे कुछ गोपन न करना ॥१०६॥

राधा बोली, हम दोनों के मन, हम दोनों ही जानते हैं, और दोनों के अन्तर में नित्य ही दोनों रहते हैं, ऐसा जो प्रवाह है, वह भी

एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासु संग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेक सरसीव चकासदेक
नालोत्थमब्ज युगलं खलु नीलपीतम् ॥१०८॥
यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक
वर्त्यग्रवर्त्यमलदीपयुगं चकास्ति।

नौ आवयोः राधाकृष्णयाः द्वितयत्वं कदाचित् न सम्भवत्येव ॥१०७॥

सोपमया स्वोक्तिं विशदयति एकात्मनीति। कस्मिंश्चित् अनिर्वचनीय एक सरसि एकस्मिन् एव सरोवरे खलु चकासत् शोभितं एक नालोत्थं नीलपीतम् अब्जयुगलम् इव इह रस पूर्णतमे लीला-कल्लोल वारिधौ अत्यगाधे एकात्मनि एव नौ आवयोः राधाकृष्णयोः तनुद्वयम् एकासु संग्रथितम् एकसूत्रेण आवद्धम् वर्त्तते ॥१०८॥

सार्थक दृष्टान्तेन स्वरूपानुभावं वर्णयति यदिति। स्नेह पूर भृतभाजनराजितैकवर्त्यमलदीपयुगं यथा घृतपरिपूर्णदीपपात्रस्थैक वर्त्यग्रवर्त्ति यत् अमलोदीपयुगप्रदीप्त प्रदीपयुगलं तत् तथा च परोक्षम्

आरोप मात्र है ठीक नहीं है, कारण हम दोनों की एक आत्मा है, एक आत्मा के लिए दो होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है ॥१०७॥

जैसे किसी एकसरोवर में एकही नाल से उत्थित नील व पीत वर्ण दो कमल विकसित होते हैं, वैसे ही अतिशय, अगाध, रस परिपूर्ण एक आत्मा में हम दोनों के नील एवं पीतवर्ण दो तनु एकही प्राण संग्रथित होकर है ॥१०८॥

और भी जैसे तेल परिपूर्ण पात्रस्थित एक वर्त्ती के दोनों मुख प्रज्ज्वलित दोनों के मूल देशस्थ अन्धकार का विनाश करते रहते हैं, उसी प्रकार एक आत्मा में व एक प्राण में नील व पीतवर्ण दोनों तनु

तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष
मानन्दयेदखिल पार्श्वगताः सदालीः ॥१०६॥
यद्यापतेद्विरह मारुत एतदात्त
कम्पं भवेद् युगपदेव भजेच्च मूर्च्छाम् ।
व्यग्रा सदाल्यथ तदावरणे यतेत
तत् सुस्थयेच्च सुखसद्मगतं विधाय ॥११०॥

अज्ञातसारेणैव इतरेनरतमोपनुदत् अन्योन्यान्धकार विनाशि सत् सदा अखिल पार्श्वगताः निखिला समीपस्थाः आलीः सखीः आनन्दयेत् उल्लसयेत् ॥१०६॥

सदृष्टान्तेन सखीनाम् स्वभावं वर्णयतियदीति । यदि अत्रस्मात् नतु सचराचरं विरहमारुतः विरह पवन आपतेत् आगच्छेत् तदा एतत प्रदीपरूपं तनुद्वयंराधा कृष्णाख्यं आत्तकम्पं व्यग्रयुक्त हृदय भवेत् एततु स्वाभाविकमेव अपरञ्च युगपदेव समकालमेव मूर्च्छा निर्वाणतां भवेत् प्राप्नुयात् अनन्तरं यहि तस्मिन्नैव समये सदाली सदापार्श्वगता सखी व्यग्रा सती तदावरणे विरह पवनात् प्रदीपं रक्षयितु यत्नेन प्रयत्न शीला भवेत् तत् तनुद्वतं प्रदीपरूप राधाकृष्णाख्यं सुखसद्मगतं विरह भवनाभावात् उल्लासपरिपूरितस्थान विधाय प्राप्य सुस्थयेत् आनन्दयेत् च ॥११०॥

परस्पर के अन्धकारका नाश कर पार्श्वस्थितासखीगण को आनन्दित कर रहे हैं ॥१०६॥

सखि ! जब विरह रूप पवन से हमदोनों के अनुरूप प्रदीपद्वय कम्पित होकर मूर्च्छित हो जाते हैं, तब निपुणा सखीगण अतिशय व्यग्रता के साथ उस विरह पवन को रोकने के लिए यत्नवती होकर उभय को उभय के सङ्ग सुख लाभ कराकर सुस्थ करती हैं ॥११०॥

सन्दर्शितं तदिदमद्य रहस्यरत्नं
स्वस्वान्त सम्पुटवर स्फुटमुद्घटय्य ।
सन्देहसन्तमसहारि तवास्तु भव्ये
हृद्येव धार्य्यमनिशं न वहिः प्रकाश्यम् ॥१११॥
कृष्णोजगाद सखि यद् यदिदं त्वयोक्तं
तत्तत् स युक्तिकमधारयमेव सर्बम् ।

उपसंहारे प्रस्तुत विषयस्य दुर्ज्ञेयत्वं दौर्लभ्यं सवर्था गोपनीय त्वञ्चोक्त्वा स प्रश्रयं निवदेयति सन्दर्शितमिति हे भव्ये परम मङ्गला लये ! अद्य साम्प्रतम् इदं वर्णितं रहस्यरत्नं गोप्यनिधि स्वखान्तः सम्पुटवरं निजहृदयपेटिकां उद्घटय्य अनावृतं विधाय स्फुटं उत्तम रूपेण सन्दर्शितम् । तत् तव देवीजनस्य सन्देहसन्तमसहारि संशयतमो विनाशि अस्तु भवतु एतत् सदा हृदि एव अनिशं निरन्तरं धार्य्यं धारणीयं नतु कदाचित् नवा वहिः वाण्या न च प्रकाश्यम् कदापि प्रकाशनीयम ॥१११॥

तदा देवललनापटावृतस्य श्रीकृष्णस्योक्तिं प्रदर्शयति कृष्ण

इति । देवाङ्गनाभिनयवान् अवगुण्ठितः कृष्णः श्रीभानुनन्दिन्याः कथनस्योत्तरे जगाद, हे सखि ! यत् यत् इतः प्राक् त्वयाउक्तं भणितं तत् तत् सर्वं सयुक्तिकम् युक्ति युक्तमेव अधारयम् अवधारयम् । अहो !

हे कल्याण ! मेरा हृदय रूप सम्पुट को खोलकर तुम्हारे सन्देह रूप अन्धकार को दूर करने के लिए यह जो रहस्य रत्न समूह का प्रदर्शन मैंने कियाहै, इसे तुम निरन्तर अपने हृदयमें धारण करना जैसे कभी भी बाहर प्रकट न करना ॥१११॥

उत्तर में देवाङ्गना वेशधारी कृष्णने कहा तुमने जो कुछ कहा, वे सब ही युक्ति युक्त मानकर अवधारण किया है, किन्तु क्या करूँ ?

चेतस्तु मे शठमहो हठवर्त्त्यवश्यं
तत्ते परीक्षितुमिहेच्छति किं करोमि ॥११२॥
त्वं वर्त्तसेऽत्र स तु साम्प्रत मात्मतात
गेहे कदाचिदवनाय गवां वनेऽपि ।
आत्मैक्यमालि युवयो र्यदिह प्रतीम
स्तत् किं परीक्षणमृतेसमुपैति सिद्धिम् ॥११३॥
यैव स्मृतिः सुमुखि यस्य यथा यदा ते
सैवास्य चेद् भवति तर्हि तथा तदैव ।

आश्चर्यकरमिदं, मे मम शठं निर्बोधं हठवर्त्ति अवश्यं चेतः तु ते तव तत् पूर्वोक्तमूहं इह अस्मिन्नेव समये स्थाने च परीक्षितुम् साक्षात् कर्त्तुं इच्छति अहं किं करोमि वद ? ॥११२॥

संशयवीजं प्रकटयति त्वमिति, त्वम् श्रीभानुनन्दिनी अत्र मम सन्निकटे वर्त्तसे, तव प्रियतमः सः श्रीकृष्णः साम्प्रतम् अस्मिन्नेव समये आत्मताततगेहे निज पितृचरणस्य गृहे अथवा कदाचित् गवाम् अवनाय सम्भालनाय वने गोचारणस्थाने वर्त्तते, हे आलि ! हे सखि ! युवयोः राधाकृष्णयोः यत् आत्मैक्यम् आत्मनः एकता इह प्रसङ्गे प्रतीमः तत् किं परीक्षणम् ऋते विना सिद्धिं सुदृढ़तां समुपैति याति ? ॥११३॥

स्वाभिलाषं पूरयितुं श्लक्ष्णया गिरा अनुनयति येति । हे

तुम्हारी ये सब कथा की परीक्षा साक्षात्में करने के लिए मेरा अबाध्य चित्त बड़ा हठ कर रहा है ॥११२॥

तुम यहाँपर हो, तुम्हारे प्रियतम सम्प्रति पितृगृह में अथवा गोचारण के निमित्त वनमें है, सखि ! तुम दोनों की जो एकात्मता का विश्वास मैंने किया है, उसकी परीक्षा के विना दृढ़ नहीं हो सकता है ॥११३॥

प्रत्यक्षमेव यदि तां कलयामि सम्प्र
त्यत्रैव व सखि तदैव दधे प्रतीतिम् ॥११४॥
दूरेऽथवा निकट एव सते प्रियः स्या
देहीह सत्वरमिति स्मृतमात्र एव ।
आयाति चेत् तव समक्षमयं तदावा
मात्म्यैक्य मित्यवगमो धिनुयात् सदा माम् ॥११५
विघ्नः क्वचित् तु गुरुनिघ्नतयापि दैवाद्
दैत्यागमादपि कुतश्चन वापि हेतोः

सुमुखि ! शोभनवदने श्रीराध ! यदा यस्मिन् समये ते तव यस्य वस्तुनः या एव स्मृतिः यथा येन प्रकारेण भवेत् तदा तस्मिन् समये अस्य श्रीकृष्णस्य सा स्मृति एव तथा एव तेन प्रकारेणैव भवति चेत् सम्प्रति अधुना एव वा प्रत्यक्षं नयन गोचरी भूतं यदि तां स्मृतिं कलयामि अवगच्छामि तर्हि तदा एव प्रतीतिं चिश्वासं दधे एव ॥११४
स्वाभीप्सित विषयेस्वोपपत्ति दर्शयति दूरे इति । ते तव प्रियः श्रीकृष्णः दूरे अथवा निकटे एव स्यात् "इह सत्वरं एहि" इति स्मृत मात्रः एव स्मरणमात्रेणैव तव समक्षम् समीपं आयाति आगच्छति येन, तदा वां युवयो आत्मैक्यम् इति अवगम बोध मां सदा नित्य मेव धिनुयात् आनन्दितां कुर्य्यात् ॥११५॥

हे सुमुखि ! जब तुम्हारी स्मृति जिस वस्तुकी होती हैं, उनको भी ठीक उस समय उस वस्तु की वैसी स्मृति देखी जाय, तब ही मेरा विश्वास दृढ़ होगा ॥११४॥

तुम्हारे प्रिय निकट में हो अथवा दूरमें हो यहाँपर सत्वर आ जाओ । तुम्हारे ऐसे स्मरणसे ही यदि सत्वर आकार उपस्थित होते हैं, तब तुम दोनों की आत्मा एक है जानकर सुखी होंगी ॥११५॥

अन्योन्यमप्यतनु वां स्मरतो यदिस्या
न्नो सङ्गति स्तदिहनास्तितमां विवादः ॥११६
यद्यप्यमुं गुरुपुरे सखि सङ्कुचन्ती
नंवाह्वयस्यभिसरस्यतएव दूरम् ।
किञ्चैकदापि न तदागममीहसे त्वं
स्वार्थन्त्विवदन्तु नितरां मदिराक्षि विद्मः ॥११७॥

स्वोक्तौ सामोपाय संदिशति विघ्न इति । अन्योन्यम् उभयोः परस्परं अतनु बहुतरं यथास्यात् तथा स्मरतोः अपि वां युवयोः यदि कदाचित् दैवात् अदृष्टवशात् क्वचित् गुरुनिघ्नतया गुर्वाधीनतया अपि कुतश्चन दैत्यागमनात् वा अपिहेतोः विघ्नः स्यात् मिलने बाधा स्यात्, सङ्गतिः मेलनं युवयोः परस्परं नो न भवति, तत् तदा तस्मिन् विषये मम विवादः आपत्ति नास्तितमाम् ॥११६॥

स्वाभीष्ट सिद्धये श्रीगान्धर्विकायाः समीपे मधुरया गिरा देवी जनो निवेदयति यदीति द्वयेन यद्यपि सम्भावयामि हे सखि राधे! त्वं गुरुपुरे आर्य्यायाः गृहे सङ्कुचन्ती लज्जिता सती अमुं कान्तं श्रीकृष्णं नैव आह्वयसि नाकारयसि, अतएव अस्मात् कारणात् दूरम् सङ्केतस्थलं अभिसरसि अभिसारं करोषि,किञ्च पुनः कदापि कस्मिश्चिदपि

किन्तु यदि तुम दोनों परस्पर को स्मरण करने पर भी दैवात् गुरु परवशता, किम्वा दैत्यागमन, अथवा अन्य किसी हेतु से विघ्न होने के कारण तुम दोनों का मिलन नहीं हो तो उस में मेरा किसी प्रकार अविश्वास नहीं होगा ॥११६॥

हे सखि ! यद्यपि तुम गुरुगृह में सङ्कुचित होकर प्रियको बुला नहीं सकती, इसलिए स्वयं अभिसार करती हो, और स्वार्थ के लिए उनके आनेकी इच्छा कभी भी नहीं करती हो, ये सब, हमसब उत्तम

कृष्णप्रिये सखि तदप्यधुना ममानु
रोधादमुं स्मर स एतु सुखं तनोतु।
नात्रास्ति ते गुरुजनागमनावकाशो
मत् संशयोत्थमपि खेदमपाकरोतु ॥११८॥
इत्यर्थिता सरभसं वृषभानुकन्या
यन्यायमाह नय मा हसनीयतां माम्।

समये स्वार्थं तु स्व सुखार्थं तु न तदागमम् तस्य कान्तस्य आगमनम् न ईहसे न वाञ्छसि इदं तु हे मदिराक्षि ! हे सुलोचने ! वयं देवीजनाः नितरां विश्वस्तरूपेण विद्मः जानीमः तदपि तथापि, हे सखि ! कृष्ण प्रिये ! मम देवीजनस्य अनुरोधात् सम्मानार्थं अधुना अस्मिन्नेव समये अमुं प्राण वल्लभं श्रीकृष्णं स्मर, सः श्रीकृष्णः तव स्मरणप्रभावेन एतु आगच्छतु, सुखं उल्लासं तनोतु विस्तारयतु सङ्कोचमस्मिन् विषये मा कुरु, त्वरितं मदुक्तमाचर, अत्र ते तव गुरु जनागमनानवकाशः गुरु जनानां आर्याणां आगमनस्य अवकाशः सम्भावना न आस्ति न विद्यते अतः हेतोः मात् संशयोत्थम् अपि खेदम् दुःखं अपाकरोतु सखीति शेषः ॥११७-११८॥

सकौतुकंप्रार्थनेन श्रीवृषभानुनन्दिनी सन्यायं वदति इतीति, दुर्ल्लोक ललनावेशविभूषितेन श्रीकृष्णेन इति पूर्वोक्त प्रकारेण सरभसं परिहास

रूपसे जानतीं हूँ, तथापि हे मदिराक्षि ! हे कृष्णप्रिये ! मेरे अनुरोधसे सम्प्रति उनको एक वार स्मरण करो। वे पधारने से हम सब सुखी होंगे विशेषतः सम्प्रति तुम्हारे गुरुजनों के यहाँपर आने की सम्भावना नहीं हैं। तुम निः सङ्कोच से मेरा संशयोत्थ दुःख दूर करो॥११७॥

देवाङ्गना वेशधारी श्रीकृष्ण कौतुक के साथ प्रार्थना करने पर श्रीवृषभानुनन्दिनी ने युक्तिपूर्ण वाक्यसे बोली, हे सखि ! मुझे हास्या-

ब्रूषे यथैव करवाणि तथैव नो चेत्
प्रेमैव धास्यति रुजं चिरमात्तलज्जः ॥११९॥
वृन्दारकेड्य भगवन् मदभीष्टदेव
श्रीभास्कर त्रिजगदीक्षणसौख्यदायिन् ।
मत् सर्वकामद कृपामय पद्मिनीश
सत्यानृत्याद्यखिल साक्षितया प्रतीत ॥१२०॥
गान्धर्विका गिरिधरौ भवतः सदैका
त्मानाविती यमनृता न यदि प्रथास्ति ।

पूर्णं अर्थिता प्रार्थिता श्रीवृषभानुकन्या श्रीराधा सन्यायं सोपपत्तिकं आह हे सखि ! मां हसनीयतां हास्यास्पदतां मा नय, यथैव ब्रूषे, चेत् यदि तथेव तदनुरूपमेव नो न करवाणि, मम प्रेमा कान्त विषयिनी ममता एव आत्तलज्जः लज्जितः सन् चिरं सदैव मां रुजं पीड़ां धास्यति दास्यति ॥११९॥

अनन्तरं स्वाभीष्टसिद्धये श्रीभानुनन्दिन्याः स्वेष्टदेव प्रार्थनं विवृणोति वृन्दारकेति युग्मकेन। श्रीभानुनन्दिनी दिनमणि प्रार्थयति हे वृन्दारकेड्य ! सर्वदेववन्द्य ! भगवन् गभस्तमालिन् ! मदभीष्ट देव मदाराध्यदेव ! श्रीभास्कर । त्रिजगदीक्षण सौख्य दायिन् मद् सर्व कामद, कृपामय ! पद्मनीश ! सत्यानृताद्यखिल साक्षतया प्रतीति !

स्पद न करना, तुम जो कुछ कहती हो उसको यदि मैं कर न सकूँ तो मेरा प्रेम ही लज्जित होकर मुझे चिरकाल दुःखित करता रहेगा।

तदनन्तर श्रीराधिका यह कह कर प्रार्थना करने लगी, हे देवाराध्य, हे भास्कर, हे त्रिभुवन-दर्शन--सुखद ! हे सर्व कामद, हे कृपामय ! हे पद्मिनीश, हे अखिल सत्य--मित्थ्या के साक्षी स्वरूप !

सम्प्रत्यसौ गिरिधरोऽत्र तदाददानो
मन्नेत्रयोः परिचयं स्वमुदेऽभ्युदेतु ॥१२१॥
उक्त्वेदमेव वृषभानुसुतात्मकान्तं
ध्यातुं समारभतमीलित नेत्रयुग्मा ।
सा योगिनीव विनिरुद्धहृषीकवृत्ति
रास्ते स्म यावदविखण्डितमौनमुद्रा ॥१२२॥

इति सम्बोध्य प्रार्थयाति "गान्धर्विका गिरिधरौ सदा एकात्मानौ भवतः" इति इयं प्रथा जनप्रसिद्धिः यदि अनृता मिथ्या न अस्ति न भवति तदा सम्प्रति अधुनैव असौ गिरिधरः स्वमुदे मन्नेत्रयोः परिचयम् आददानः सन् अभ्युदेतु मम नेत्र गोचरो भवतु ॥१२०॥१२१॥

श्रीवृषभानुसुतायाः ध्यान प्रकारं तत्फलश्चाह उक्त्वेति द्वयेन, इदम् उक्त्वा पूर्वोक्त प्रकारेण श्रीभास्करं संप्रार्थ्य एव वृषभानुसुता निमीलित नेत्र युग्मा मुद्रितनयनासती आत्मकान्तं प्राण प्रेष्ठं श्रीकृष्णं ध्यातुं ध्यानं कर्त्तुं समारभत । सा श्रीभानुनन्दिनी यावत् योगिनी इव विनिरुद्ध हृषीक वृत्तिः योगिनी यथा इन्द्रियाणि निरुद्ध परमात्मनि मनः धारयति तद्वत् भानुनन्दिनी अपि संयतात्मेन्द्रिया अखण्डित मौन मुद्रा मौन व्रतश्चावलम्व्य च आस्ते स्म, तावत तस्मिन्नेव समये सः

गान्धर्विका व गिरिधर सर्वदा ही एकात्मा है, यह बात यदि सत्य हो तो इसी समय गिरिधर मेरे आत्मीय वर्ग को सुखी करने के लिए मेरे नेत्रगोचर हो जायें ॥१२०--१२१॥

यह कह कर श्रीवृषभानुनन्दिनी स्वीय नेत्र युगल मुद्रित कर निज कान्त का ध्यान करने लगी, आपने जब योगिनी की भाँति इद्रियवृत्तियों को निरोधकर मौनावलम्बन करके रही, तो उस समय श्रीकृष्ण सहसा स्त्रीवेश परित्यागपूर्वक सखी गण को भ्रूभङ्गी द्वारा

तावद्विहाय सहसैव हरिः स योषि
द्वेशं सखीः स्वमखिलाः परिचिन्वतीस्ताः ।
भ्रू संज्ञयैव विदधन्निज पक्षपाते
चुम्बन् प्रियां मुहुरवारितमालिलिङ्ग ॥१२३॥
रोमाञ्चिताखिलतनुर्गलदश्रुसिक्ता
ध्यानागतं तममबुध्य वहि र्विलोक्य ।

देवाङ्गनाभिनयपरायणः हरिः श्रीकृष्णः सहसा हठादेव योषिद्वेशं ललनावेशं विहाय त्यक्त्वा स्वं परि चिन्वतीः ताः अखिलाः सखीः भ्रू संज्ञाया भ्रू सञ्चालनेङ्गितेन एव नतु वाक्येन निज पक्षपाते स्वपक्षपातिनीः विदधात् कुर्वन् सन् प्रिया श्रीभानुसुतां मुहुः पौन पुन्येन अवारितं निरर्गलं यथा स्यात् तथा चुम्बन् पुनः परं आलिलिङ्ग आलिङ्गितवान् ॥१२२-१२३॥

अनन्तरं श्रीभानुसुतायाः अवस्थां वर्णयति रोमाञ्चितेति । तदा श्रीकृष्णस्य प्रेमालिङ्गनादिसंप्राप्त्यनन्तरं सा श्रीराधा रोमाञ्चिताखिल तनुः प्रेमपुलकायित सर्वाङ्गी तं श्रीकृष्णं प्राण प्रेष्ठं ध्यानागतम् तत्र मनः संयोगेन आगतं अवबुध्य ज्ञात्वा इदन्तु न केवलं मनसि अपितु वहिः तं श्रीकृष्णं विलोक्य ध्यानानुरूपं दृष्ट्वा आनन्दलीनहृदया आनन्दनिमग्नचित्ता आसीत् । एषा खलु गलदश्रु सिक्ता अविरल प्रेमा

अपनी पक्षपातिनी कर प्रेयसी को मुहुर्मुहु अवारितभाव से चुम्बन व आलिङ्गन करन लगे ॥१२२--१२३॥

उस समय श्रीराधिका सर्वाङ्गमेंरोमाञ्चित होकर ध्यान में प्रियतम के आगमन को अवगत हो गई एवं बाहर भी प्राण रमण को देख कर अजस्र अश्रु धारा विसर्जन करते करते आनन्द में लीन हो गई वे उस समय में सत्य सत्य ही एक योगिनी की भांति निरञ्जन

आनन्द लीन हृदया खलु सत्यमेव
योगिन्यराजत निरञ्जन दृष्टिरेषा ॥१२४॥
संज्ञां क्षणादलभताथ पटाञ्चलेन
वक्त्रं पिधाय सुदृगातनुते स्म लज्जाम् ।
तं प्राह सैव ललिता किमहो विलासि
न्नागा अलक्षितमिह त्वमतीव चित्रम् ॥१२५॥
अन्तः पुरे कुलबधुकुलमात्रगम्ये
शक्तो न यत्र पवनोऽपि हठान् प्रवेष्टुम् ।

श्रुभिरभिषिक्ता सती सत्यम् वास्तविकमेव निरञ्जनदृष्टिः अञ्जन रहित नेत्रा ज्ञाननेत्रा योगिनी सङ्गमवती अराजत अशोभत ॥१२४

कृत्यन्तरं साभिनयं प्रस्तौति सञ्ज्ञामिति, सा श्रीभानुतनया क्षणात् तत् कालमेव संज्ञा चेतनतां अलभत, अथ अनन्तरं पटाञ्चलेन स्व वसनाञ्चलेन न त्वरितं वक्त्रं वदनं पिधाय आवृत्य सुदृक् शोभन नयन सा श्रीगान्धर्विका लज्जाम् सङ्कोचम् आतनुते स्म। तदा तस्मिन्नेव समये सा एव प्रसिद्धासखी ललिता तु तं श्रीकृष्णं प्राह अहो विलासिन् त्व किम् अलक्षितम् अतर्कितं इह अस्माकम् अन्तः पुरे आगाः आगमन मिद अतोव चित्रम् आश्चर्य्यम् रसावहञ्च ॥१२५।

दृष्टि हो गई, अर्थात् अश्रु जल से नयन युगल के अञ्जन धौत करने गली ॥१२४॥

क्षण काल के वाद संज्ञा प्राप्त होनेपर वह सुलोचना वसनाञ्चल द्वारा अपना मुख को छिपाकर लज्जिता होकर रही, तव ललिता नागरवर को कही—अहो विलासिन् ! तुम अलक्षित में यहाँपर आ गए हो, बड़ी ही आश्चर्य्य की वात है ॥१२४॥

तत्रेति यस्तु गतभीः पुरुषः स एव
गण्योऽति साहसिक शेखर एक एव ॥१२६॥
तत्रापि मद्विधसखीजनपालितायाः
साध्वीकुलाप्लवनकीर्त्तिसुरापगायाः ।
स्नात्वैव मित्रयजनाय कृतासनाया
स्तं ध्यातुमेव विनिमीलितलोचनायाः ॥१२७॥

कृष्णस्य साहसिकं कर्म दृष्ट्वा ललिता प्राह अन्तः पुरे इति । यत्र यस्मिन् कुलबधुमात्रगम्ये अन्तः पुरे पवन समीरणः अपि अन्यस्य का वार्त्ता हठात् अनुमतिं विना अतर्कितमेव प्रवेष्टुं न शक्तः समर्थो न भवेत्, तत्र तस्मिन्नेवावरोधे तु यः कोऽपि गतभीः साहसिकः पुरुषः एति आगच्छति सः पुरुषः एषः एव अतिसाहसिकशेखरः निर्भीक मूर्द्धण्यः गण्यः भवेत् ॥१२६॥

श्रीकृष्णमुपालम्भितुं प्रखरा ललिता सरोषतर्ज्जनं प्राह तत्रापीति तत्र कुलवधुमावगम्ये दुर्गे अन्तः पुरे अपि मद्विध सखीजन पालितायाः अस्मद्विध विश्वस्त सखीजन रक्षितायाः साध्वीकुलाप्लवनकीर्त्ति सुरापगायाः साध्वीकुलानाम् पति व्रतानाम् आप्लवनं अवगाहन यस्यां तथाविधा कीर्त्ति सुरापगा कीर्त्तिरूपा स्वर्नदी यस्याः तस्याः एव मित्र यजनाय सूर्य्यपूजनाय कृतासनायाः उपविष्टायाः, तं मित्र सूर्य्यंध्यातुम्

यह अन्तः पुर केवल कुलललनाओं के वासस्थान है, इसमें पवन भी सहसा प्रवेश कर नहीं सकता है । एतादृश दुष्प्रवेश अन्तः पुर में जो पुरुष निर्भय से प्रविष्ट होता है वह पुरुष ही अति साहसिक शिरोमणि है ॥१२६॥

एक और अन्तः पुर दुष्प्रवेश्य है, दूसरी और राजनन्दिनी विशेषत मादृश सखीजन द्वारा रक्षित हैं । इनकी कीर्त्तिरूप सुरधुनी में साध्वी

अङ्गं बलात् स्पृशसि यद्वृषभानुपुत्र्या
देवात् ततो दिनपतेरपि नो विशेषि ।
न त्वं किमत्र गणयिष्यसि लोक धर्मो
लज्जा तु केयमिति तां नहि पर्य्यचैषीः ॥१२८
तन्माधवाद्य तवदिष्टमहं स्तुवे य
दार्य्या गृहे नहि नापि पतिः स कोपी ।

एव विनिमीलित लोचनाया ध्यानमुद्रित नयनायाः सख्याः वृषभानु पुत्र्याः अङ्गं बलात् साहसात् स्पृशसि यत् तत् किं ततः देवात् दिनपतेः सूर्य्यात् अपि ने विभेषि ? त्वं किम् अत्र जगति लोक धर्मो न गणसिष्यसि ? लज्जातु का इयम् इति तां लज्जां नहि पर्य्यचैर्षीः लज्जानाम पदार्थ नं जानासि ? ॥१२७--१२८॥

ललिता व्याजस्तत्या माधवं उपालम्भयति तदिति हे माधव ! श्रृङ्गाररसरसिक ! तत् तस्मात् कारणात् अद्य साम्प्रतं तव दिष्टं अदृष्टं अहं स्तुवे तत्प्रति धन्यवादं ददामि, यत् यस्मात् कारणात् आर्य्या अस्याः पतिदेवस्य माता गृहे आवास गृहे नहि विद्यते, अपराच

गण श्रवण कीर्त्तन रूप स्नान कर पवित्र होतीं हैं, मेरी सखी स्नान कर मित्र पूजाके उद्देश्य से आसन में बैठकर उस मित्रका ध्यान करने के लिए नयन द्वय मुद्रित कर हैं, साहसिक तुम, उनके अङ्ग बलपूर्वक स्पर्श कर रहे हो ! सूर्य देवसे भी तुम्हारा भय नहीं है ? एवं लोक मर्य्यादा व धर्म मर्य्यादा को तुमने क्या छोड़ ही दिया है ? एवं लज्जा किसे कही जाती है, उसके साथ तुम्हारा क्या विलकूल ही परिचय नहीं है ॥१२७॥१२८॥

जो भी हो । आज तुम्हारा भाग अच्छा निकला है, कारण आर्य्या एवं वह उग्र पति दोनों ही घर में नहीं हैं, हम अबला

सख्योऽबलावयमहो करवामु किं ते
भद्रेण लम्पटवर त्वमितोऽवितोऽभूः ॥१२९॥
कृष्णोऽब्रवीत् कमपि नैव दधामिमन्तुं
गोशाल चत्वर मनुश्रित खेलनोऽहम् ।
दैवात् समस्मरमिमामथ सद्य एव
दैवेन केनचिदिवागमितोऽप्यभूवम् ॥१३०॥

वार्त्ता इयमस्ति सः कोपी कोप प्रधानः अभिमन्युः पतिः अपि अस्मिन् समये गृहे न वर्त्तते। तर्हि अस्माभिरेव प्रतीकारो विधेयः सोऽपि असम्भवः एव कथः सख्यः वयं अबलाः त्वं तु बलवान् अतएव अहो ! आश्चर्य्यं ते तव किं पूजादिकं करवाम् हे लम्पटवर ! रसिक शेखर ! इतः अस्मात् कारणात् त्वं भद्रेण शोभन रूपेण मर्य्यादया अवितः रक्षितः अभूः ॥१२९॥

प्रत्युत्तरे कृष्णस्य वचनं प्रस्तौति "कृष्ण इति" कृष्णः विदग्ध शिरोमणिः श्यामसुन्दरः अब्रवीत् उत्तरं दत्तवान्, अहं दुष्टो न नच वेच्छया आचरणमिदं कृतवान् कम् अपि अपराधं प्रतिकूलाचरणं न एव दधामि, तत् कथमत्र आगतवान् ? उत्तरे अवदत् अहं गोशाल-चत्वरम् अनुश्रित खेलनः क्रीड़ारतोऽपि दैवात् अतर्कित कारणात् इमां राधां समस्मरन् अथ स्तरणानन्तरं सद्यः तत् क्षणात् एव केनचित् दैवेन इव आगमितः अभुवम् ॥१३०॥

है तुम्हारा क्या कर सकती हूँ। लम्पट वर ! ! तुम्हारे भाग्य आच्छा हैं, सकुशल वचगये हो ॥१२९॥

तव कृष्ण ने कहा, मेरा कोई दोष नहीं हैं, मैं तो गोशाला के अङ्गन में खेल रहा था दैवात् इनको स्मरण किया, एवं किसी देवता तत् क्षणात् मुझे यहाँपर ले आया ॥१३०॥

राधाभ्यधत्त ललिते क्वनु वर्त्ततेऽसौ
देवी प्रतीति मुपयाति विलोक्य नो वा ।
देवीतु दीव्यति दृशैव गताधिरेत
द्धामान्तरत्र सुदमातनुते ततो नः ॥१३१॥
देवीति कां भणसि तां परिचाययात्रे
त्युक्त्वा सखीं हरिरथ ब्रुवदब्रुवाणाम् ।

एतस्मिन् अवसरे श्रीराधाया: आचरणं विवृणोति राधेति। राधा अभ्यधत्त, कथितवती, हे ललिते ! असौ देवी, देवीजनः क्वनु कुत्र वर्त्तते यत् कृते मम ध्यानं ध्यानफलं च युगपदेव सद्यः अभूत् एतत् विलोक्यं साक्षात् कृत्यतस्याः प्रतीति विश्वासं निश्चयं उपयाति नो वा ? उत्तरे ललिता आह, देवी तु दृशा युवयोः मिलन दर्शनेन एव गताधिः निः सन्दिग्धा सती अत्र पुरोवर्त्ति धामान्तः गृहेमध्ये दीव्यति शोभते, ततः कारणात् नो अस्माकं मुदम् आनन्दातिशयं आतनुते विस्तारयति ॥१३१॥

ललितायाः वचनं श्रुत्वा श्रीकृष्णः अवदत् देवीति। अत्र अस्मिन् समये गृहेऽस्मिन् "देवी" इति कां भणसि वदसि, ताम् उक्तां देवीं सखीं विश्वस्तां परिचायय दर्शय, इति एवं प्रकारेण उक्त्वा

राधा बोली:—हे ललिते ! वह देवी अत्र कहाँ है ? दर्शन कर उनका विश्वास हो रहा है अथवा नहीं, ललिता बोली वह देवी तुम दोनों के मिलन से पीड़ा शून्य होकर इस घर में देदीप्यमान हो रही है, हम सबभी परम सुखिनी हो गई ॥१३१॥

उस समय कृष्णने कहा, तुमसव जिस को देवी कहती हो, उनको दिखाओ ! तव ललिताने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तवपुनर्वार कृष्णने कहा, इस थोड़े ही समय में तुम सब की जो धूर्त्तता उसे मैं

आं ज्ञातमद्य ललिते खलु धूर्त्तता वो
व्यक्तेयतैव समयेन बभूवदिष्टया ॥१३२॥
काप्यत्र सिद्धवनिता किमु खेचरी वा
देवी समेति तत एव गृहीतविद्या ।
मामत्यवश्यमियमात्मवशे विधाय
दासीयति प्रतिदिनं प्रसभं प्रकृष्य ॥१३३॥
सैवाद्य मह्यमपि कञ्चन मन्त्रमेकं
राधे ददातु भव भाविनि मे सहाया ।

कथनानन्तरं अथ हरिः श्रीकृष्णः अब्रुवाणां निरुत्तरां ताम् ललितां अब्रुवत् हे ललिते ! आं ज्ञातम् अद्यखलु इयता एव समयेन वः युष्माकम् सखीनाम् धूर्त्तता कपटता दिष्ट्या भाग्येन व्यक्ता प्रकटिता बभूव ॥१३२॥

अनन्तरं श्रीकृष्णस्य सोपहासवचनं विवृणोति कापीति । कापि अपरिचिता सिद्धवनिता अलौकिकशक्तिसम्पन्ना वशीकरणतन्त्रा निपुणा खेचरी आकाश चारिणी देवी दुर्ल्लोक वासिनी वा अत्र अस्मिन् अवरोधे समेति समागच्छति । इयं श्रीराधा वः युष्माकम् सखी ततः सिद्ध वनितायाः सकाशात् एव गृहीत विद्या सती अत्यवश्य निश्चित माम् आत्मवेशे विधाय प्रतिदिनं प्रसभं स्वेच्छानुरूपं प्रकृष्य आकृष्य दासीं यति अधीनं कर्त्तुमिच्छति ॥१३३॥

अच्छी तरह समझ गया हूँ ॥१३२॥

किसी सिद्धवनिता व खेचरी देवी तुम्हारे यहाँ आती होगी ? तुम्हारी सखी उससे किसी सिद्धमन्त्र ले लिया होगा ? जिस से अतिशय अवश्य जो मैं हूँ मुझ को भी प्रतिदिन वशीभूत एवं बलपूर्वक आकर्षण कर दासवनाने की इच्छा कर रही है, ॥१३३॥

शिष्यं त्वमेव कुरु मामथवा प्रपन्न
मुत्कण्ठितं रहसि कुत्रचनापि नीत्वा ।।१३४।।
वंश्येव राजतितमामतिसिद्धविद्या
साङ्कं तवानयति साधुसतीः पुरस्त्रीः ।

श्रीगान्धर्विकायाः समीपे गिरिधरः स्वाभिलाषं निवेदयति सैवेति हे राधे श्रीवृषभानुनन्दिनि ! सा विख्याता सिद्धवनिताएव अद्य अधुना मह्यम् श्रीकृष्णमपि किञ्चन किमपि एकं मन्त्रं आकर्षणमन्त्रं ददातु । हे भाविनि हे कामिनि ! मे श्रीकृष्णस्य मम सहाया आनुकूला भवः अथवा असम्भवपक्षे प्रपन्नं शरणागत उत्कण्ठितं च मां कुत्रचन कस्मिंश्चित् स्थाने अपि रहसि निर्ज्जन प्रदेशे नीत्वा त्वं एव शिष्यं अनुशासनाधीनं कुरु । ललनासविधे मन्त्रग्रहणेन रसिकस्य क्षिप्रमेव मन्त्र सिद्धि र्भवेदिति ।।१३४।।

तदुत्तरे श्रीराधिका प्राह वंशीति । तव प्रिय सखी वंशी एव अतिसिद्धविद्यया राजतितमाम् वंशी सिद्धविद्या प्रकाशाय सिद्धहस्ता भवेत्, अघटन घटन चातुरी तस्यां अभूतपूर्वा वर्त्तते । सा सम्मोहिनी विद्या पारगा साधुसतीः पुरस्त्रीः कुलाङ्गना तव अङ्कं संकल्पमात्रेणैव आनयति. ललनाकर्षणे सा सुदक्षा भवेत् । श्रीभानुसुतायाः सुमधुर वचनं श्रुत्वा श्री कृष्णः प्राह, तव कथनं सत् कृते सत्यमेव, किन्तु तां वंशीं च अपि यर्हि यस्मिन् समये चोरयसि अपहरणं कृत्वा त्वं आत्म सात् करोषि तदा तस्मिन् कालेसहाया वशगाः अभावात् मे मम

प्रियतमे ! इस समय मेरी बड़ी इच्छा हो रही है कि तुमने जिस देवी से मन्त्र ग्रहण किया है, वह देवी आज मुझे भी मन्त्र प्रदान करे । भाविनि, ! तुम हमारे सहाय होकर मन्त्र दिलादो । अथवा अति उत् कण्ठाके साथ तुम्हारी शरण ले रहा हूँ, मुझ को किसी निर्ज्जन स्थान में ले जाकर अपना शिष्य बनाओ ।।१३४।।

ताञ्चापि चोरयसि यर्हि तदा गति र्मे
का स्यादतो नहि तयापि तदार्थसिद्धिः ॥१३५॥
देवी ह्रिया तव गृहान्तरिहास्ति लीना
त्वाम् एव मन्त्रमुपदेक्ष्यति साकथं वा ।
उत्कण्ठसे तदपि चेत् प्रविश स्वयं भोः
सा चेत् दयेत भविता एव कार्य्यं सिद्धिः ॥१३६

निरुपायस्य का गति स्यान भविता ? अतः त्वया वंश्या अपि एकया सदा सर्वकाले अर्थसिद्धिः प्रयोजनसिद्धि र्नहि स्यात् न भवेत् अतः मन्त्रदेहि, सत्वरं शिष्यं कुरु ॥१३५॥

गाधा गिरिधरयोः कथनोपकथस्य समाधानाभावं दृष्ट्वाआशु समाधनार्थं ललिता प्राह देवीति देवी स्वर्ल्लोक वासिनी ललना तव ह्रिया त्वां दृष्ट्वा लज्जया इह पुरोवर्त्ति गृहान्तः लीना अस्तिगृह मध्ये लुक्कायिता तिष्टति, निष्क्रमितुं समर्था नभवेत्, त्वाम् एव सा देवी ललना वा कथं केन प्रकारेण मन्त्रं उपदेक्ष्यति ? मन्त्रदाने आत्यन्तिक समीप वर्त्तिताया आवश्यकत्वं वर्त्तते, भोः हे कृष्ण ! तदपि मदुक्त विवरणं श्रुत्वापि यदि मन्त्र प्राप्त्यर्थ उत्कण्ठा वर्त्तते उत्कण्ठसे चेत्, यदि सा सिद्धललना दयते, तर्हि तदा तव कार्य्य सिद्धिः मन्त्रग्रहण रूपा सिद्धि भविता ॥१३६॥

राधिका बोलीः--वंशी तो तुम्हारी सिद्ध विद्या अच्छी तरह जानती है, पतिव्रता साध्वीगण की भी तुम्हारी गोदी में लादेदेती है, कृष्ण बोले, ना, वंशी को जब तुम चूरालोगी तब मेरी गति क्या होगी ? अतएव वंशी से मेरी कार्य्य सिद्धिसर्वदा नहीं होती है ॥१३५॥

ललिता बोली, तुम्हें देखकर देवी लज्जासे घर में छिपी हुई है, बाहर नहीं हो रही हैं, वे कैसे तुम्हें मन्त्र प्रदान करेगी ? यदि

इत्यच्युते विशति वेश्म जगादराधा
किं तत्त्वमत्र सखि मां वद संशयानाम् ।
राधे न सङ्कुच चल प्रविशामि तस्याः
सख्या स्तवात्र हरिणा कलयामिसङ्गम् ।।१३७।।
आलीषुमन्दहसितामृतवर्षिणीषु
कृष्णोक्तिपाटवमथोदभिनत् तदुप्तम् ।

ललितायाः उपदेशं श्रुत्वा अच्युतस्य गृहप्रवेश सम्भ्रमम् वर्णयति. इतीति । इति पूर्वोक्तरूपेण ललितायाः देवी विषयकं विवरणं निशम्य अच्युते कृष्णे वेश्म गृहं विशति सति राधा भानुनन्दिनी स सम्भ्रमं जगाद, सखि ! ललिते अत्र अस्मिन् संशयानां विषये सन्दिग्ध विषये किं तत्त्वं रहस्यं वर्त्तते तत् रहस्यं मां वद राधावचनं आकर्ण्य ललिता आह उक्तवती, हे राधे, न सङ्कुच लज्जां न प्राप्नुहि, चल, अग्रसर, गृहं प्रविशामि, अहम् मया सह आगच्छ अत्र विभीषिका नास्तीति भावः । अत्र अस्मिन्नेव सदने तव तस्याः सख्याः देवीललनायाः हरिणा कृष्णेन समम् सङ्ग मिलनं कलयामि निभालयामि ।।१३७।।

यत्कृते प्रस्तुतग्रन्थस्योत्पत्तिः, तस्याः फलमाह आलीष्विति अथ वेश्म प्रवेशानन्तरं श्रीराधायाः हृद्वप्रं हृदय क्षेत्रं अनुअवलम्ब्य तदुप्तं तत् वीजं उप्तं तेन श्रीकृष्णेन उक्तं कृष्णोक्ति पाटवं कृष्णोक्ति नैपुण्यरूपं वीजम् तदेववीजं आलीषु प्राणप्रेष्ठ ललितादिषु मन्दहसिता

तुम्हारी उत्कण्ठा हो तो स्वय ही घर में प्रवेश करो, यदि उनकी दया होगी तो तुम्हाराकार्य सिद्ध होगा ।।१३६।।

यह बात शुनकर कृष्ण घर में प्रविष्ट होने पर राधिका बोली ललिते ! बात क्या ? कहो 'मुझे डर लगरहा है, ललिता बोली भय क्या है ? चलो हम सबभी तुम्हारे साथ जाकर श्रीकृष्ण के साथ तुम्हारी उस सखी का सङ्ग अवलोकन करूँगी ।। १३७।।

हृद्वप्रमन्वधित तर्कतरुस्ततोऽस्या
ऋद्धः फलं बहुरसं निखिलावबोधम् ॥१३८॥
अन्तर्दधेत्वहि रगादथवात्र देवी
तन्मार्गणाय तदित स्त्वरया प्रयामः ।
विद्यां त्वमेव सखि तामुपदिश्य कृष्ण
मानन्दयेति सहसा निरगुस्तदाल्यः ॥१३९॥
तत् प्रेमसम्पुट गतै र्बहु केलिरत्नै
स्तौ मण्डितावजयतां रतिकान्तकोटीः ।

मृतवर्षिणीषु स्मितहसनमेव अमृतं तस्य वर्षणमेव स्वभावं यासु तासु सखीषु सतीषु उदभिनत् उद्भिन्नम् अङ्कुरितं अभूत. ततः तस्मात् अस्याः श्रीराधिकायाः तर्कतरुः भृशंऋद्धः वर्द्धितः सन् निखिलावबोधं समग्रतात्त्विकज्ञानरूपं अप्रच्चुत रसमयं फलं अधित दधार ॥१३८॥

तस्मिन्नेवावसरे प्रियसखीललिता मधुरमुक्तवती, अन्तर्दधे इति । ललिता उवाच अत्र अस्मिन् सदने देवी स्वर्ल्ललना अन्तर्दधे

श्रीराधिका के हृदयरूप क्षेत्रमें श्रीकृष्ण के वचन नैपुण्य रूप जो वीज उप्त हुआ था, वह वीज अब सखी वृन्दरूप सेघ माला के हास्य रूप अमृत के वर्षण से अङ्कुरित होकर अत्यन्त तर्क रूप तरुका उद्गम हुआ, सकल तत्त्व का जो यथार्थ ज्ञान रूप रसमय फल है वह उस तर्क तरुसे उत्पन्न हुआ ।१३८॥

अनन्तर ललिता बोली,— सखि ! वह देवी अन्तर्द्धान होगई । किम्वा किसी और चलीगई ? उन को ढूढ़ने के लिए अब हमसब जा रहीं हूँ क्या करोगी, तुम स्वयं ही प्रियतमको उस मन्त्र देकरआनन्दित करो यह कह कर सखीगण सत्वर चलीगई ॥१३९॥

उस समय प्रेम सम्पुट के मध्ये में जो बहुविध केलिरत्न था

सन्तोऽपि यत् श्रवणकीर्त्तनचिन्तनाद्यै
स्तौ प्राप्तुमुन्नतमुदः सततं जयति ॥१४०॥

अन्तर्हिता, अयथा इतः स्थानात् वहिः अगात् तत् तस्मात् वयं सख्यः तन्मार्गणाय तस्याः अन्वेषणाय त्वरया सत्वरं प्रयामः हे सखि, त्वम् एव तां सिद्धविद्यां कृष्णं उपदिश्य आनन्दय मनोरथं परिपूरय, इति एवं प्रकारेण उक्त्वा तदाल्यः तस्याः भानुनन्दिन्याः आल्यः सख्यः ललितादयः निरयुः भवनात् निर्गताः ॥१३९॥

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः इत्युक्तदिशा 'ग्रन्थानुशीलनस्य फलमाह तदिति । तत्तदा सखीगण निर्गमणानन्तरं तौ राधागिरिधरौ प्रेम सम्पुटगते प्रेमपेटिका निहितैः बहु केलिरत्नैः मण्डितौ । भूषितौ सन्तौ रतिकान्तकोटीः कोटिमदनस्य दर्पं चूर्णयित्वा अजयताम् जित वन्तौ, यत् यस्मात् सन्तः अपि तौ श्रीराधा कृष्णयुगलौ प्राप्तुं श्रवण कीर्त्तन चिन्तनाद्यै उन्नतमुदः सन्तः अपरिमित लोकोत्तरानन्दव्याप्ताः सन्तः रति कान्त कोटीः असंख्यमदनंसततं निरन्तरं जयन्ति, तस्मात् हेतोः तयोः श्रीराधाकृष्णयोः मिषेव आत्मन्यवरुद्ध सौरतः इतिन्यायेन कामजये प्राकृतकामस्य निग्रहे किम् आश्चर्य्यम् अस्ति ! न किमपिः तदुक्तम् मुनिना—

विक्रीड़ितं व्रजबधुभिरिदञ्चविष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथवर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥१४०॥

उससे दोनों ने दोनों को भूषित कर कोटि कोटि रति कान्तिको पराजित किया, यह और क्या विचित्र है ? क्यों कि उन युव युगल को लाभकरने के लिए सज्जनगण उस केलिरत्न के श्रवण-कीर्त्तन-चिन्तनादि द्वारा परमानन्दित होकर सतत कामदेव को पराजित करते हैं ।

षट्शुन्यऋत्ववनिभिर्गणिते तपस्ये
श्रीरूप वाङ् मधुरिमामृतपानपुष्टः ।
राधा गिरीन्द्रधरयोः सरसस्तटान्ते
तत् प्रेमसम्पुटमविन्दत कोऽपि काव्यम् ।।१४१।।

इति श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिविरचितं प्रेमसम्पुटाख्यं काव्यं सम्पूर्णम् ।

सप्रश्रयं प्रेमसम्तुटनामकं ग्रन्थमुपसंहरति षट् शून्येति । षट् शून्यऋत्ववनिभिः गणिते अङ्कस्य वामागतिरित्युक्तादिशा रचनसमयं निर्द्दिशति । षट्शून्यऋतु अवनिभिः १६०६ शाके तपस्ये फाल्गुने मासि राधा गिरिन्द्रधरयोः श्रीराधा गिरिधरयोः सरसः कुण्डस्य तटान्ते श्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्ड तटे तत् प्रेम सम्पुटं काव्यम् अविन्दत श्रीराधाकृष्णयोः कृपयैव स्फुरितमिदं काव्यमिति शेषः ।।१४१।।

इति श्रीवृन्दावनस्थ कालियदह निवासिना न्याय वैशेषिकशास्त्रिनव्यन्यायाचार्य काव्य व्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्त तर्क तर्क तर्क वैष्णवदर्शनतीर्थ विद्यारत्नाद्युपाधि भाजा श्रीहरिदास शास्त्रिणा विरचितं प्रेमसम्पुट व्याख्यानं सम्पूर्णम् ।।

१६०६ शकाब्द के फाल्गुनमास मेंश्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्ड तट पर अवस्थित होकर किसी ने यह प्रेमसम्पुट काव्य प्राप्त किया, अर्थात् रचना की ।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तीठक्कुरकृत श्रीप्रेमसम्पुटस्य हिन्दीव्याख्या समाप्ता, ।।१।६।७७

हरिदास समाख्येन वृन्दाविपिन वर्त्तिना
प्रेम सम्पुट भाषार्थः कृतोऽयंविदुषांमुदे ।

श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

१। वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"
२। श्रीनृसिंह चतुर्दशी, ३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका
४। श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति
५। श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका
६-७-८। श्रीगोविन्दलीलामृतम्
९। ऐश्वर्यकादम्बिनी, १०। संकल्पकल्पद्रुम
११। चतुःश्लोकी भाष्यम् १२। श्रीकृष्णभजनामृत
१३। श्रीप्रेमसम्पुट, १४। भगवद्भक्तिसार समुच्चय
१५। व्रजरीतिचिन्तामणि,
१६। श्रीगोविन्दवृन्दावनम्
१७-१८। श्रीराधारससुधानिधि (मूल, सानुवाद)
१९। श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,
२०। हरिभक्तिसारसंग्रह
२१। श्रुतिस्तुति व्याख्या, २२। श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र
२३। धर्मसंग्रह, २४। श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर
२५। सनत्कुमार संहिता, २६। श्रीनामामृतसमुद्र
२७। रासप्रबन्ध, २८। दिनचन्द्रिका
२९। श्रीसाधनदीपिका, ३०। चैतन्यचन्द्रामृतम्
३१। स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन,
३२। श्रीगौराङ्गचन्द्रोदयः, ३३। श्रीब्रह्मसंहिता
३४। प्रमेयरत्नावली, ३५। नवरत्न
३६। भक्तिचन्द्रिका, ३७। वेदान्तस्यमन्तक
३८। श्रीभक्तिरसामृतशेषः, ३९। दशश्लोकी भाष्यम्
४०। गायत्री व्याख्याविवृतिः, ४१। श्रीचैतन्यभागवत
४२। श्रीचैतन्य मङ्गल

४३ ।श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्
४४ । तत्त्वसन्दर्भः, ४५ । भगवत्सन्दर्भः
४६ । परमात्मसन्दर्भः, ४७ । कृष्णसन्दर्भः
४८ । श्रीगौराङ्गविरुदावली । ४९ । सत्सङ्गमः ।
५० ।श्रीचैतन्यचरितामृतम् ।
५१ । नित्यकृत्यप्रकरणम्

वङ्गाक्षरे मुद्रित

५२ । श्रीबलभद्र-सहस्रनामस्तोत्रम् ५३ । दुर्लभसार
५४ । साधकोल्लासः ५५ । भक्तिचन्द्रिका
५६-५७ । श्रीराधारससुधानिधि (मूल, सानुवाद)
५८ । भगवद्भक्तिसार समुच्चय ५९ । भक्तिसर्वस्व
६० । मनःशिक्षा ६१ । पदावली
६२ । श्रीसाधनामृतचन्द्रिका

प्रकाशनरत ग्रन्थरत्न—

१ । श्रीहरिभक्तिविलासः ।
२ । श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्, ३ । भक्तिसन्दर्भः,
४ । प्रीतिसन्दर्भः ५ । श्रीचैतन्यचरितामृत
(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत)
६ । अलङ्कार-कौस्तुभ (प्रभृति)